योग सिद्धान्त एवं अध्यात्म का प्रतिपादक मासिक

सिद्धयोग

संस्थापक : योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन सवाई-283202 (आगरा) उ.प्र.

वर्ष : 53 : अंक : 9
दिसम्बर 2020

प्रकाशन तिथि : 01.12.2020
मूल्य - एक प्रति : 20/- , त्रिवार्षिक : 360/-

अमृतकण

कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्।।

सत्ययुग में विष्णु के ध्यान से, त्रेता युग में यज्ञों से, द्वापर में विधिपूर्वक पूजा करने से जो फल मिलता था, वही फल कलियुग में भगवान के नाम-कीर्तन से मिलता है।

◆ ◆ ◆

अहोरात्रं हरेर्नाम कीर्तयन्ति च ये नराः।
कुर्वन्ति हरिपूजां वा न कलिर्बाधते च तान्।।

जो मनुष्य दिन-रात भगवान के नाम का अखण्ड कीर्तन या सानन्द हरि पूजा करते हैं, उन्हें कलिकाल बाधा नहीं पहुँचाता।

◆ ◆ ◆

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्वेन प्रवेष्टुं च परंतप।।

अर्जुन ! मेरे इस प्रकार के स्वरूप को अनन्य भक्ति से मुमुक्ष पुरुष यथार्थतः जान सकते हैं, देख सकते हैं तथा मेरे स्वरूप में अवस्थित भी रह सकते हैं।

◆ ◆ ◆

आर्ता विषण्णाः शिथिलाश्च भीता
घोरेषु च व्याधिषु वर्तमानाः।
संकीर्त्य नारायण शब्द मात्रं
विमुक्तदुःखा सुखिनो भवन्ति।।

आर्त, उदास, शिथिल तथा भयभीत एवं भयंकर विपत्ति में पड़े हुए प्राणी भी केवल "नारायण" शब्द का संकीर्तन करके सभी दुःखों से छूटकर सुखी हो जाते हैं।

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक-पत्र

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्
मर्त्योमृत्योर्मुख विवरतो, मुक्तिमाप्नोति सद्यः।
तत्राप्यर्थान् बहुतर विशदान् योगशास्त्रोपदेशान्
कल्याणानाम् भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।

अर्थ :—शुद्ध (निर्विकार) स्वभाव वाले परम ब्रह्म का ध्यान करते-करते मृत्यु के मुख में पड़ा हुआ मनुष्य शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। उस मुक्ति की प्राप्ति के उपाय स्वरूप योग ध्यान शास्त्र के सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या करने वाली ''सिद्धयोग'' नामक पत्रिका सत्पुरुषों के परम कल्याण की सिद्धि (प्राप्ति) में सक्षम व सहायक हो।

वर्ष : 53 दिसम्बर 2020 अंक : 9

पितासि लोकस्य चराचरस्य

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्र्येऽप्यप्रतिम प्रभाव।।

अर्थात् - हे जगन्निवास ! आप इस चराचर जगत के पिता हैं। आप गुरुओं के भी गुरु एवं पूज्य हैं। अप्रतिम प्रभाव वाले तीनों लोगों में आप के समान कोई नहीं है। फिर आप से बढ़कर और कोई कैसे हो सकता है।

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र

सयांई (एत्मादपुर) आगरा

SIDDHYOG

HINDI MONTHLY
Propagating Yoga & Spiritual values

संस्थापक :
योग-योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :
आचार्य (डा.) दासलाल ब्रह्मचारी

संयुक्त सम्पादक
डॉ. विजय सिंह

प्रबन्ध सम्पादक :
समस्त योग प्रचार मण्डलों के अध्यक्ष एवं गुरु भाई-बहिन

अनुक्रमणिका

1.	**विशेष लेख**- योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज	3
2.	**सम्पादकीय**	9
3.	**श्रीमद्‌भागवत् में योग-परिचर्चा**- डॉ. विजय सिंह	13
4.	**सोई जानई जेहि देहू जनाई**- जगदीश राए बंसल	17
5.	**माया का आवरण हटा दे**- श्री बालकृष्ण जी गर्ग	20
6.	**गुरु निष्ठा का एक अद्‌भुत प्रसंग**- अन्तूराम यादव	21
7.	**मन्त्रयोग विज्ञान**- पूर्णचन्द्र पन्त	24
8.	**प्रच्छर्दन विधारणाभ्यां वा प्रणस्य**- श्री जगदीशनारायण उपाध्याय	30
9.	**अक्रिया की साधना**- रचना शर्मा	39

एक प्रति	: रु. 20.00
वार्षिक शुल्क	: रु. 180.00
द्विवार्षिक	: रु. 360.00
आजीवन (10 वर्षीय केवल)	: रु.1000.00

विशेष लेख–

सत्संग एवं सिद्धयोग

(योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज)

सत्संग शब्द का क्या अर्थ है, इसके विषय में सर्वसाधारण में गलत धारणा है कि जहाँ पर दस–बीस व्यक्ति मिलकर किसी भी प्रकार का भगवत् गुणानुवाद गायन, भजन–संकीर्तन, कथा–प्रसंग आदि करते हैं, एतावत् मात्र क्रिया कलाप को ही वे सत्संग कहा करते हैं। वैसे हमारे शास्त्रों में सत्संग की महिमा बहुत प्रकार से वर्णित है। जगदात्मा अखिल लोक पावन श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भागवत् के ग्यारहवें स्कन्ध में सत्संग की महिमा को बताते हुए दो श्लोकों में इस प्रकार कहा है–

न रोधयति मां योगो, न सांख्य धर्म एव च।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो, नेष्टा पूर्त न दक्षिणा।।
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि, तीर्थानि नियमा यमाः।
यथावरुंधे सत्संगः, सर्व संगापहो हि माम्।।

भगवान ने पहले तो '**न रोधयतिमाम् योगः**' अर्थात्–योग मुझे खुश नहीं कर सकता, ये शब्द कह कर अपनी प्राप्ति के साधनों में सत्संग की अपेक्षा योग को भी उत्कृष्ट साधन नहीं माना। पाठकगण अपने मन में यह विचार करते होंगे कि पूर्ण–योग योगेश्वर अखिल आत्मा भगवान श्रीकृष्णचन्द्र जी ने योग को अपने मुख से अपेक्षाकृत अपनी प्राप्ति का गौण साधन मान लिया। पर यह बात यथार्थ नहीं है। सत्संग किस वस्तु का नाम है, यह अभी कुछ पंक्तियों के बाद ही हम समझा देना चाहते हैं कि वस्तुतः साधक को सत्संग के द्वारा ही अपने ध्येय भूतयोग की प्राप्ति हुआ करती है। भगवान का यह कहना 'न रोधयति माम् योगः' केवल मात्र साधनयोग का ही संकेत है। भक्त लोग भगवान का गुणानुवाद करते हुए प्रायः गाया करते हैं–

नाहं वसामि वैकुण्ठे, योगिनाम् हृदये न च।
मद्भक्ताः यत्र गायन्ति, तत्र तिष्ठामि नारद।।

अर्थात्–मैं न वैकुण्ठ में रहता हूँ और नहीं योगियों के हृदय में रहता हूँ, किन्तु जहाँ पर भक्त लोग मेरा गायन किया करते हैं वहीं मैं रहा करता हूँ। इसका अभिप्राय यह नहीं

समझना चाहिए कि भगवान ने भक्तों के अधीन होकर अपने दिव्य लोक बैकुण्ठ को एव योगियों के हृदय को छोड़ दिया। यथार्थ में तो उनके रहने का स्थान उनका बैकुण्ठ लोक एवं हमेशा समाधिस्थ रहने वाले योगियों का ह्रदय ही है, किन्तु भक्तों के गायन में भी मेर उत्कृष्ट आकर्षण है और इनके प्रेम एवं हृदय के भाव से परिपूर्ण उनके गायन में भी मैं जाय करता हूँ यही इसका सांकेतिक अर्थ है। वास्तव में तो योगियों का हृदय एवं बैकुण्ठ ही उनके निवास का स्थान है। इसी प्रकार से इस श्लोक में उनकी प्राप्ति के जितने साधनों का वर्णन शास्त्रों में किया गया है उन सबको गौण बतलाकर सत्संग की ही प्रमुखता बतलायी गयी है। सांख्यशास्त्र का विवेचनात्मक सिद्धान्त भगवान को सत्संग की अपेक्षा प्रिय नहीं है। थोड़ी देर के लिए हम विचार करें। इन दो श्लोकों के अन्दर जगदात्मा श्रीकृष्ण ने प्राय: अपनी प्राप्ति के सभी साधनों को न के बराबर गौण बताकर सत्संग की प्रधानता का वर्णन किया है। इन श्लोकों के पहले चरण के अन्दर 'न रोधयति माम् योगः' कह कर योग का गौण रूप से वर्णन किया है। वैसे तो भगवान श्रीकृष्णचन्द्र के जीवन चरित्र को हम उठाकर पढ़ें तो उनका पूरा जीवन योगमय है और उन्होंने अपने प्रत्येक लीला–चरित्र से संसार को योग का पाठ पढ़ाया है। उनके जीवन की एक–एक घटना यौगिक ऐश्वर्य से परिपूर्ण है। श्रीमद्‌भागवत् के इन दो श्लोकों के अतिरिक्त और भी जितने उन्होंने उपदेश दिये वे सब योग–परक हैं और समझने वाले विद्वज्जनों के लिये ये दो श्लोक ही योग की पूर्णतम् महत्ता को बतलाते हैं। भगवान ने गीता में अर्जुन को योग की महत्ता बतलाते हुए स्पष्ट शब्दों में आदेश दिया है कि–

तपस्विभ्योऽधिको योगी, ज्ञानिभ्योऽपिमतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी, तस्माद्योगी भवार्जुन।।

अर्थात्–हे अर्जुन! योगी का दर्जा ज्ञानी, तपस्वी एवं कर्मकाण्डी सभी की अपेक्षा परमोत्कृष्ट है। इसलिए तू योगी बन।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव, दानेषु यत् पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा, योगी परम् स्थानमुपैति चाद्यम्।।

अर्थात्–वेद में, यज्ञ में, तप में, दान आदि में जो पुण्य फल कहा है योगी उन सबको पार करके आदि परम स्थान को प्राप्त हुआ करता है। इसके अतिरिक्त जहाँ पर सांख्य योग और योग का वर्णन गीता के अन्दर मिलता है वहाँ पर भी भगवान ने योग की महिमा का उत्कृष्टता के साथ वर्णन किया है। भगवान ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया है–

संन्यासस्तु महबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योग युक्तो मुनिर्ब्रह्म, न चिरेणाधिगच्छति।।

—'गीता'

अर्थात्—हे अर्जुन! बिना योग के सन्यास को प्राप्त करना बहुत कठिन है और योग युक्त मुनि ब्रह्म को बहुत जल्दी पा जाता है। इसलिये योग ही परम श्रेष्ठ है। अतः हे अर्जुन तुम्हें योग प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए।

दूसरा साधन आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए सांख्य योग का अभ्यास है। इसका भी संसार में बहुत बड़ा प्रचार है, किन्तु भगवान ने सांख्य शास्त्र के इस विवेचनात्मक सिद्धान्त को भी सत्संग कर अपेक्षा नाम मात्र के बराबर गौण बतला दिया।

ईश्वर प्राप्ति का तीसरा साधन स्वाध्याय है। भगवान पतंजलि देव जी अपने योगदर्शन में स्पष्ट रूप से कहते हैं कि—

'स्वाध्यायादिष्ट देवता सम्प्रयोगः'

इस सूत्र का भाष्य करते हुए श्री व्यासदेव जी निम्नांकित पंक्ति लिखते हैं—

देवा ऋषयः सिद्धाश्च स्वाध्यायशीलस्य दर्शनं यच्छन्ति कार्ये चास्य वर्तन्त इति।

ऋषि, मुनि एवं देवता लोग स्वाध्यायशील व्यक्ति की आँखों के सामने जाया करते हैं और उनके काम कर दिया करते हैं। हमारे शास्त्र हमें स्पष्ट निर्देश करते हैं—

स्वाध्यायाद् योगमासीत, योगात्स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याय योग सम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते।।

अर्थात्—मनुष्य को चाहिए स्वाध्याय के बल से इष्टदेव का साक्षात्कार कर ले। स्वाध्याय से योग की प्राप्ति हो और योग से स्वाध्याय का मनन करे। इस प्रकार स्वाध्याय और योग की सम्पत्ति के द्वारा परमात्मा का प्रकाश हो जाता है, किन्तु जगदात्मा भगवान श्रीकृष्ण ने यहाँ पर स्वाध्याय की साधना को भी सत्संग की अपेक्षा न के बराबर माना है।

चौथा साधन हमारे शास्त्र बतलाते हैं—'तप'। ब्रह्मचर्य और तप के द्वारा देवताओं ने मौत को जीत लिया।

तप से परमात्मा पहचाना जाता है। तप एवं स्वाध्याय के द्वारा ही ध्रुव आदि ने ईश्वर का साक्षात्कार किया, किन्तु भगवान ने स्वाध्याय की उत्कृष्ट महिमा बतलाते हुए पूर्वोक्त दोनों श्लोकों में यह कहा है कि तप भी उनको रिझाने का उत्कृष्ट साधन नहीं है। पाँचवां—त्याग को भी अपनी प्राप्ति का साधन नाममात्र के बराबर ही दिखलाया है। वैसे श्रीमद्भगवत् गीता में **त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्**:—त्याग से शाश्वत् शान्ति को प्राप्त कर लेता

है, यह कहकर के त्याग को भी अपनी प्राप्ति का एक साधन माना है। किन्तु यहाँ पर त्याग

है, यह कहकर के त्याग को भी अपनी प्राप्ति का एक साधन माना है। किन्तु यहाँ पर त्याग की अपेक्षा सत्संग की उत्कृष्टता को समझाया है।

छठा स्थान इष्टा–पूर्त और दक्षिणा का है। इष्टा–पूर्त और दक्षिणा का अर्थ है–कुएँ, बावड़ी, तालाब आदि बनवाना जिनके द्वारा परम पुण्य की प्राप्ति हुआ करती है। जगदात्मा ने इन सभी साधनों को बिल्कुल न के बराबर माना है। इसके अतिरिक्त बड़े–बड़े व्रतों को करना, वेद–पाठ का सुनना, यज्ञ करना। यह सब सत्संग की अपेक्षा गौणरूप रूप से वर्णित है।

इस सबका कारण क्या है? क्या योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण कभी अपनी प्राप्ति के सभी साधनों को इसी प्रकार से निषेधात्मक रूप से कह सकते हैं? सत्संग की अपेक्षा उन्होंने साधना व अभ्यास रखने वाली श्रेणी को बहुत ही गौण रूप से कहकर सत्संग की उत्कृष्टता बतलायी है। वस्तुतः ठीक ढंग से विचार करके देखा जाय तो 'सत्संग' शब्द का अर्थ ही योग है। जिस प्रकार से योगदर्शन में यम–नियम आदि अष्टाङ्ग योग के साधनों को योग की बहिरंग साधना कहकर उनका दर्जा गौण रख दिया है। इसी प्रकार से परमात्मा की प्राप्ति के लिये योग के अतिरिक्त और भी जितने साधन हैं वे सब ईश्वर की प्राप्ति के साधन भूत हैं और साधन मनुष्य के पुरुषार्थ से ही उपलब्ध हुआ करते हैं। साधन करता हुआ मनुष्य परमात्मा को पा जाता है। इसमें कोई शंका की बात नहीं, किन्तु कोई पुण्यात्मा जीव अपनी विविध प्रकार की साधनाओं से महान पुण्य एकत्र करके यदि 'सिद्धयोग' का विद्यार्थी बन जाता है और सत्पुरुषों का संग प्राप्त कर लेता है तब यह साधना उपरोक्त साधनों की अपेक्षा बहुत ही परमोत्कृष्ट है क्योंकि सत्संग शब्द का अर्थ है–

सतां महतां सत्पुरुषाणां संगः।

अर्थात्–सत्पुरुषों का संग ही सत्संग है। सत्पुरुषों के संग से साधक हर समय शक्ति ग्रहण करता रहता है। वैसे तो संसार का हर प्राणी हर प्राणी से शक्ति प्राप्त करता रहता है किन्तु शक्ति दे वही सकता है जिसने अपने अन्दर शक्ति का संचय पूर्णरूपेण कर लिया है। एक व्यक्ति किसी को आँख से देखता है तो वह आँखों के द्वारा अपने दर्शनीय भूत व्यक्ति पर शक्तिपात करता है। किसी का स्पर्श करता है तो वह स्पर्श के द्वारा शक्तिपात करता है। इसके अतिरिक्त यदि योगी वाणी से कोई शब्द कहता है तो वह वाणी के द्वारा शक्तिपात करता है। किसी का स्पर्श करता है तो वह स्पर्श के द्वारा शक्तिपात करता है। हमारे पाठकों ने अच्छी प्रकार से अनुभव किया होगा कि संसार में कोई दुःखी प्राणी अपने दुःख से आक्रान्त होकर चिल्लाता है, रोता है तो उसको सान्त्वना देने के लिए उसके

दुःख से आक्रान्त होकर चिल्लाता है, रोता है तो उसको सान्त्वना देने के लिए उसके

6 सिद्धयोग / दिसम्बर 20

बड़े-बूढ़े उसके पास जाते हैं और उसके सिर पर कर-स्पर्श करते हैं। उनके प्यार व कर-स्पर्श से वह व्यक्ति शान्ति का अनुभव करता है। यह एक प्रकार का शक्ति का ही प्रभाव होता है। जिसकी जितनी शक्ति बढ़ी होती है उतना ही वह मनुष्य दूसरों को शक्ति दे सकता है। यह तो लौकिक प्रवाह है। लोक में हर व्यक्ति जब इस प्रकार से शक्ति प्राप्त कर लेते हैं तो जो लोग महापुरुषों के संग में रहने वाले हैं वे लोग कितनी शक्ति को ग्रहण करते रहते होंगे इसका कोई अनुमान भी नहीं लगा सकता क्योंकि महापुरुष पूर्णरूपेण सिद्ध हुआ करते है और सभी प्रकार की शक्तियों से हर समय सम्पन्न रहा करते हैं। इसलिये उनकी हर क्रिया से हर समय शक्तिपात होता रहता है। जो जन-साधारण के कल्याण का बहुत बड़ा साधन बनता है। बिना शक्तिपात के किसी का पूर्णरूपेण अभ्युत्थान होना असम्भव सी बात है। उपनिषदों में यह स्पष्ट उल्लेख है-

देहान्ते ज्ञानिभिः पुण्यात्यागाच्च फलमाप्यते।
इदृशं तु भवेन्तत्तम्द्क्त्वा ज्ञानी पुनर्भवेत्।।
पश्चात्पुण्येन लभते, सिद्धेन सह सङ्गतिम्।
ततः सिद्धस्य कृपया, योगी भवति नान्यथा।।

अर्थात्-शरीर छूट जाने के बाद योग रहित शाब्दिक ज्ञानियों को भी पाप-पुण्य का फल भोगना पड़ता है और इस प्रकार के पाप-पुण्य के संस्कारों को भोगकर ज्ञानी लोग पुनः संसार में जन्म लिया करते हैं और उसके बाद पुण्य के प्रभाव से इन लोगों को सिद्ध गुरु की संगति प्राप्त होती है। सिद्ध-गुरु की संगति को पा करके ये लोग योगी बनते हैं, तब संसार चक्र नष्ट होता है। उससे पहले किसी भी प्रकार से उनका संसार-चक्र नष्ट नहीं होता। यहाँ पर इन श्लोकों में बड़े-बड़े ऊँचे ज्ञानी को भी संसार चक्र से निवृत्त होने के लिए सिद्ध-संगति की आवश्यकता वांछित हुई। इसलिये जगदात्मा भगवान श्रीकृष्ण जी ने सत्संग की महिमा का इतना बड़ा वर्णन किया है। सत्संग शब्द का अर्थ हम पहले ही लिख चुके हैं।

सत्पुरुषों व महापुरुषों का संग ही सत्संग कहलाता है। ज्यों ही मनुष्य को सत्पुरुषों की संगति मिलती है और सत्संगति प्राप्त करने वाला यदि पुण्यात्मा होता है तो उससे इस प्रकार की चेष्टायें बन जाती हैं जिनसे परिपूर्णतम सर्वसमर्थ सिद्ध गुरु का हृदय प्रसन्न हो जाये और प्रसन्नता में उनका जो संकल्प बनता है वही उसके कल्याण का मूल स्त्रोत बन जाता है। सिद्धों के संकल्प में ही सकल कल्याण निहित है। जो जीव सिद्धों की संगति करते हैं वे यदि पुण्यात्मा हों तो उनके द्वारा गुरुदेव के मनोनुकूल उचित व्यवहार, सेवादि स्वाभाविक

सम्पन्न हो जाता है। उसकी उस विनम्रता और सेवाओं को देखकर गुरुदेव के मन में उसके प्रति ऊँचा शुभ संकल्प बनता है जिसके कारण वह व्यक्ति समाहित चित्त हो जाता है, स्वयं तर जाता है और दुनिया को तारने वाला बन जाता है क्योंकि समर्थ पुरुषों की हरेक क्रिया से उसमें बार-बार शक्ति संचरित होती रहती है। गुरुदेव का बार-बार आल्हादपूर्वक शक्ति संचार करना उनके अभ्युत्थान का कारण बन जाता है। इसलिए भगवान श्रीकृष्णचन्द्र जी ने-**यथावरुन्धे सत्संगः, सर्व संगापहो हि माम्।** -ये शब्द सत्संग की महिमा में कहे हैं।

श्री प्रभु चरणों में समर्पित

राजेश कुमार सिंह, बलिया

धर्म सहित यह जीवन बीते, ऐसा दो वरदान,
दया करो हे दयानिधि, प्रभु रामलाल भगवान।

भू पर जब से आया हूँ, रागद्वेष अपनाया हूँ,
काम-क्रोध व लोभ मोह का, एक अनोखा साया हूँ,
जप, तप, पूजा, ध्यान, योग का, मैं बैरी नादान,
दया करो हे.....

जग की सारी बुराई का, मैं ही हूँ भण्डार प्रभु,
हट्टा-कट्ठा तन ये मेरा, दुष्टों का सरदार प्रभु,
मन की देवी गणिका मेरी, ब्रह्म से हूँ अन्जान,
दया करो हे......

बोझ पाप का सिर पे लेकर, घूम रहा संसार,
योग का मन्दिर राह में आया, सिद्धगुफा के द्वार,
रज-कण उड़के मुख में पहुँचे, दूर किया अज्ञान,
दया करो हे.....

गीध, अजामिल, भिलनी को, बेकुण्ठ में बैठाये हो,
मुझको पार लगाने में, इतनी देर लगाये हो,
'राजेश' शरण में आया है, कर दो अब कल्याण,
दया करो हे.....

सम्पादकीय–

समत्वं योग उच्यते

—योगाचार्य डॉ. दासलाल ब्रह्मचारी

श्रीमद् भगवद्गीता में विश्वात्मा भगवान ने योग की परिभाषा कई अर्थों में अनेक प्रकार से समझाई है। इनमें प्रमुख परिभाषा है **'समत्वं योग उच्यते'**। यह परिभाषा अपने में सम्पूर्ण योग को समेट लेती है। गीता का यह समत्व योग मानव जीवन के शारीरिक, मानसिक एवं अध्यात्म स्तरों को संस्पर्श करता हुआ अपने अव्यय स्वरूप का भी प्रतिपादन करता है। मानव शरीर अध्यात्मप्रासाद की आधारभूमि है अतः योग के चरम लक्ष्य तक पहुँचने के लिये शारीरिक समत्व अपरिहार्य है। आयुर्वेद के सिद्धान्तानुसार **'समदोषाः समाग्निः समधातुः मलाः क्रिया'** का मापदण्ड शारीरिक समत्व के निर्णय को सुनिश्चित करता है। हमारे भौतिक शरीर वात–पित्त एवं कफ धारण करते हैं। आहार–विहार से यह जब दूषित हो जाते हैं तब रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिये योग साधना से इस त्रिदोष को सम रखा जाता है इसे ही समादोषाः कहते हैं। इसी प्रकार से शरीर में तेरह प्रकार की जो अग्नियाँ हैं वह भी सम रहनी चाहिए। सप्तधातुयें, मल (वात–पित्त–कफ दूषितावस्था में) तथा समस्त शारीरिक क्रियायें सम रहनी चाहियें। तब शारीरिक स्वास्थ्य मानना चाहिये। किन्तु हमारे ऋषियों की दृष्टि स्थूल स्तर तक ही सीमित नहीं रहती इसलिये उन्होंने केवल शारीरिक स्वास्थ्य की बात नहीं सोची। मानव जीवन के ही स्वास्थ्य की बात सोचकर आयुर्वेदज्ञ ऋषियों ने इन्द्रियों, मन तथा आत्मा के सम एवं प्रसन्न होने पर ही मानव जीवन के स्वास्थ्य को निर्धारित किया है। इस दिशा की पूर्ति के लिये भगवान गीता में सात्विक आहार के साथ–साथ युक्त विहार तथा कर्मों के प्रति युक्त चेष्टा एवं युक्त रीति से उठने बैठने का उपदेश करते हैं। इस प्रकार से साधा हुआ योग ही सिद्ध होता है और दुःखों का नाश करता है। वात–पित्तादि दोषों को सम रखने के लिये योग में आसन एवं प्राणायाम की उपादेयता मानी गई है। स्थूल अन्नमय शरीर के अन्दर दूसरा स्तर प्राणमय कोष का है। प्राण हमारे भौतिक जीवन एवं आध्यात्म जीवन दोनों की ही आधार भित्ति है तथा इन दोनों को जोड़ने में सेतु का काम करता है। प्राणों का समत्व योग साधना के प्रमुख लक्ष्यों में से एक है योगिराज लाहिड़ी महाशय

महाराज के सम्पूर्ण योगोपदेश का एकमात्र सार यही है कि प्राण कर्म अथवा प्राणोपासना करो यही सब कुछ है। प्राणों को समता में रखना ही पुण्य है और इनकी विसमावस्था ही पाप है। योगियों की दृष्टि में पाप–पुण्य का अर्थ अत्यन्त सूक्ष्म एवं व्यापक है। जब व्यक्ति के मन में काम, क्रोध, राग–द्वेष, जिघांसा मन्यु की भावना उठती है तो मन के स्पन्दित होने के कारण प्राण का समत्व टूट जाता है। प्राण विषम अवस्था में, भारी एवं द्रुत गति से प्रवाहमान होने लगता है। आयुर्वेद में भी काम–क्रोध, भय आदि को जिस प्रकार से गाड़ी अपनी पटरी से उतर जाती है वही दशा तब प्राण की होती है, मानस रोग कहा गया है। इसे ही शास्त्रीय भाषा में आधि कहते हैं। इस आधि से ही फिर व्याधि हो जाती है अर्थात् कोई भी रोग हो वह प्रथम मन को दूषित करता है पश्चात् प्राणवाही नाड़ियों को तथा इस रक्त को दूषित कर स्थूलता में स्फुटित हो जाता है। महर्षि चरक ने मानसरोगों का उपचार समाधि का अभ्यास (आत्म चिन्तन) एवं सदाचार का पालन माना है। प्राणकर्म के अभ्यास से जब प्राण को सूक्ष्मावस्था में पहुँचाया जाता है तब मन भी एकाग्र होकर संकल्प–विकल्प शून्य होने लगता है। उस समय मन का अमनस्क योग सिद्ध होता है। मन और प्राण का अभेद सम्बन्ध है। किन्तु प्राण मन की अपेक्षा स्थूल है। इसलिये योग साधना की हठयोग परम्परा में प्राण को सम करने पर ही बल दिया जाता है। '**यत्र मनो लीयते तत्र प्राणोऽपि लीयते**' का तात्पर्य यही है कि मन एवं प्राण में से एक के वश में कर लेने पर दूसरा भी वश में हो जाता है। प्राणोप्राण का स्थिर करना ही इसे सूक्ष्म बनाना या सम बनाना है। अजपा साधना भी मूल रूप से प्राण साधना ही है। गीता में वर्णित "**प्राणापानौ समौकृत्वा नासाभ्यन्तर चारिणौ**" का भी उद्देश्य यही है। यहाँ पर इंडा–पिंगला स्वर को प्राण अपान कहा है। इस प्राण और अपान को ही सम बनाना है। योग साधना में इड़ा–पिंगला स्वर को समान करते हुये सुषुम्णा स्वर को प्रवाहित करने पर जोर दिया जाता है। समकायशिरोग्रीव होकर किसी एक आसन में बैठते हुये नित्य दो घण्टे प्रतिदिन अभ्यास करने पर सूर्य तथा चन्द्र दोनों स्वर समान रूप से चलने लगते हैं इसी को सुषुम्णा स्वर की गति कहते हैं। इस स्वर के चलने पर मन स्वतः ही शान्त एवं एकाग्र होता चला जाता है। सिद्धयोगी इसी सुषुम्णा नाड़ी में प्राण संचार पर बल देते हैं। यही योगियों की प्राणोपासना एवं प्राण कर्म है। जो तत्वज्ञान का कारण बनता है। योगी अपने प्राण को सहस्रार में पहुँचा देते हैं तब वह सर्वथा वृत्ति शून्य होकर असम्प्रज्ञात समाधिनिष्ठ हो जाता है। वृत्तियाँ अर्थात् मन एवं बुद्धि का प्रभाव आज्ञा चक्र तक ही रहता है। हमारे संस्कार एवं तदात्मिका वृत्तियाँ सभी तक हम

पर हावी रहा करती हैं जब तक इनको प्राण का सहयोग एवं सहचारित्व प्राप्त रहता है। यदि प्राण समावस्था में बने रहे तो क्लिष्ट–क्लिष्ट वृत्तियाँ उठती हुई भी प्रभावहीन होकर शान्त होती चली जाती हैं। ध्यानाभ्यास काल में प्राण अवश्यम्भावी समावस्था में होता है तभी साधक में दैवी सम्पदा का उद्‌भव एवं विकास होता है। आसुरी वृत्तियाँ क्षीण होकर दबती चली जाती है। सिद्धयोगियों द्वारा प्रशस्त अजपा–विधि भी प्राण साधना है। इसमें अपनी मानसिक चेतना को भी प्राणों के साथ संयुक्त कर द्रष्टा भाव को स्थाई बनाना होता है। जिस योगी के मन स्वतः ही सम एवं सूक्ष्म अवस्था को प्राप्त हो गये हैं उस के पास बैठने से ही हमारा मन और प्राण शान्त होने लगते है। हमें भी परम शान्ति लाभ हो जाता है। मन और प्राण के सूक्ष्म होने का तात्पर्य यह है कि हमारी चेतना की व्यापकता बढ़ रही है। जो वस्तु जितनी सूक्ष्मावस्था में लाई जाती है वह उतनी ही व्यापक और शक्तिशाली होती है। परमाणु को भौतिक पदार्थों में सर्वाधिक शक्तिशाली माना जाता है। पञ्च तत्त्वों में आकाश भी सबसे सूक्ष्म एवं व्यापक है। इसी से वायु आदि तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। मन के अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण ही हमारे ऋषियों ने इसे सब शक्तियों का केन्द्र माना है। मन को एकाग्र करने पर यह सूक्ष्म होता चला जाता है। आत्मा से सूक्ष्म और कुछ नहीं होने से ही आत्मा के लिये ''**सः काष्ठा सः परागति**'' कहा जाता है। गीता में भगवान ने सम रहने वाले योगी को स्वस्थ कहा है जो गुणातीत होता है। '**समदुःख–सुखः स्वस्थः समलोष्टाश्म कांचन**'। यह वचन योगी के समाधिनिष्ठ होने का मापदण्ड माना जा सकता है। गीता में बारहवें अध्याय में भगवान ने मन के समत्व वाले भक्तों के लक्षण बताये हैं जिनमें ये लक्षण हों वही भगवान को प्रिय हैं।

योग दर्शन में स्वस्थ एवं सम शब्द की परिभाषा अत्यन्त व्यापक एवं दार्शनिक है 'स्व' इस पद का प्रधान अर्थ आत्मा है जिसकी स्थिति आत्मा में हो उसे ही स्वस्थ माना जा सकता है। इस यौगिक स्वास्थ्य को ही स्वरूपस्थिति कहते हैं। योग दर्शन में कैवल्य की परिभाषा करते हुये भगवान पतञ्जलि ने ''**सत्वपुरुषयोः शुद्धि साम्ये कैवल्यम्**'' कहकर प्रकृति और पुरुष की अपने–अपने समावस्था में शुद्धि ही कैवल्य कहा गया है। बुद्धि और आत्मा की साम्यावस्था का नाम है अपने–अपने स्वरूप में प्रतिष्ठा। ऐसे स्वरूपप्रतिष्ठ योगी के लिये ही कहा जाता है '**सः स्वस्थो भवति निर्मलो भवति**' अर्थात् आत्मदर्शी योगी स्वस्थ हो जाता है, सर्वथा निर्मल हो जाता है। उस योगी की तब 'भूमा' संज्ञा होती है। ''**भूमैव सुखम्**'' व्यापकता अर्थात् सर्वज्ञता में ही सुख है अल्पज्ञा ही दुःख है। संक्षेप में इस प्रकार

से कहा जा सकता है कि जिस प्रकार से शरीर के आधारभूत वातादि त्रिदोष की साम्यावस्था को आयुर्वेद स्वास्थ्य का आधार मानता है उसी प्रकार से मन प्राण की समावस्था मानसिक स्वास्थ्य है तथा बुद्धि एवं आत्मा की शुद्धि एवं साम्यावस्था आत्मा का स्वस्थ होना है। यदि समत्व का दूसरा नाम 'स्वस्थ' कहा जाये तो समीचीन ही होगा। योगी समाधि के द्वारा समावस्था को प्राप्त करता है। विषम अवस्था ही संसार है, दुःख है। प्रकृति की साम्यावस्था ही लयावस्था कहलाती है जो योगियों की समाधि है यही अनामय पद कहलाता है समावस्था ही ब्रह्म है। गीता में भगवान ने **'निर्दोष ही समंब्रह्म'** कहकर ब्रह्म को निर्दोष एवं सम कहा है। योग साधना की भागदौड़ इसी समत्व में जाकर समाप्त होती है। अतः गुरुदेव की कृपा पा कर उस समत्व की प्राप्ति के लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहना चाहिये।

युक्त्वाय मनसा देवान्सुवर्यतो धिया दिवम्।
बृहज्ज्योति करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान्।।

वे सबको उत्पन्न करने वाले परमेश्वर मन और इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवताओं को जो स्वर्ग आदि लोकों में और आकाश में विचरने वाले तथा बड़ा भारी प्रकाश फैलाने वाले हैं, हमारे तन और बुद्धि से संयुक्त करके हमें प्रकाश प्रदान करने के लिए प्रेरणा करें, ताकि हम उन परमेश्वर का साक्षात् करने के लिए ध्यान करने में समर्थ हों। हमारे मन–बुद्धि और इन्द्रियों मे प्रकाश फैला रहे। निद्रा, आलस्य और अकर्मण्यता आदि दोष हमारे ध्यान में विघ्न न कर सकें।

श्रीमद्भागवत् में योग-परिचर्चा

--डॉ. विजय सिंह

सातवें अध्याय में श्रीरुक्मणी जी का गर्व हरण की कथा कही गयी है। रुक्मणीजी को यह अभिमान हो गया था कि मैं इनकी सबसे अधिक प्यारी हूँ। गर्व शान्ति के लिये भगवान ने उनसे कहा-देखो! न तो मैं राजा हूँ और बड़े-बड़े राजा तथा जरासन्ध से डरकर यहाँ समुद्र में रहने लगा हूँ। अच्छा होता कि आप किसी श्रेष्ठ नृप से शादी करती। अब भी तुम किसी श्रेष्ठ नृप से विवाह करके सुखपूर्वक रहो। देखो! हम उदासीन हैं। हम स्त्री, सन्तान और धन के लोलुप नहीं हैं। देह-गेह से अलिप्त हम साक्षी मात्र हैं। हम अपने आत्मा के साक्षात्कार से ही पूर्णकाय और कृतकृत्य हैं।

उदासीन वयं नूनं न स्त्र्यपत्यार्थ कामुकाः।
आत्मलब्ध्याऽऽस्महे पूर्णा गेहयोर्ज्योतिरक्रियाः।।

श्लोक 20 अ. 60 स्क. 10

भगवान की अप्रिय वाणी सुनते ही रुक्मिणी जी अत्यन्त भयभीत हो उठीं। अत्यन्त व्यथा, भय और शोक के कारण अचानक अचेत हो गयीं। भगवान श्रीकृष्ण ने उन्हें उठ कर गिरने से बचा लिया तथा शीतल कर कमलों से उन्हें चैतन्य किया और बोले-प्रिय! मैं जानता हूँ कि तुम एकमात्र मेरे परायण हो। मैंने हँसी-हँसी में यह छलपूर्ण बातें की थीं।

भगवान की बातों से आश्वस्त होने पर रुक्मिणी जी ने कहा-सर्वेश्वर! आपका यह कथन कि आप राजाओं के भय से यहाँ समुद्र में आ बसे हैं ठीक नहीं है। मेरे विवाह के समय आप एकाकी समस्त राजाओं को शारंगधनुष के टंकार से स्तब्ध कर मुझे हरण कर लिया। इस प्रकार से श्रीमती रुक्मिणी जी ने भगवान द्वारा अपने लिये कहे गये ओछे वचनों का तात्विक उत्तर दिया।

भगवान ने उनकी बातों का अनुमोदन करते हुये कहा-साध्वी! तुम मेरी परम प्रेयसी हो। मैं उलटी-सीधी बात कर तुम्हारे पातिव्रत्य को भी भली प्रकार देख लिया।

प्रिये! मैं मोक्ष का स्वामी हूँ। लोगों को संसार-सागर से पार करता हूँ। जो सकाम पुरुष अनेक प्रकार के व्रत आदि से विषय-सुख की आशा से मेरा भजन करते हैं, वे मेरी माया से मोहित हैं।

प्रिये! तुम्हारी सेवा निश्काम भाव वाली है जो संसार बंधन से मुक्त करने वाली है।

अगले अध्याय में भगवान के पुत्र-पौत्रों का वर्णन है। श्री शुकदेव जी कहते हैं—परीक्षित्! भगवान श्रीकृष्ण की प्रत्येक पत्नी से दस-दस पुत्र हुये। वे गुणों में पिता के ही समान थे। उनके पुत्र एवं पौत्रों की संख्या करोड़ों तक पहुँच गयी। राजा परीक्षित ने पूछा-भगवन! आपसे कोई बात छिपी नहीं है क्योंकि योगीजन भूत, भविष्य और वर्तमान की सभी बातें जानते हैं। वे इन्द्रियों से परे की भी बातें जानते हैं। वे दूर की हो, ओट में छिपी हो उन सबको भलीभाँति जानते हैं—

अनागतमतीतं च वर्तमानमतीन्द्रियम्।
विप्रकृष्टं व्यवहितं सम्यक् पश्यन्ति योगिनः॥2॥

अ. 61 श्लो. 10

श्रीशुकदेव जी ने कहा—परीक्षित्! प्रद्युम्नजी मूर्तिमान कामदेव थे। उनके सौन्दर्य पर मोहित हो रुक्मी की पुत्री रुक्मवती स्वयंवर में उन्हीं को वरमाला पहनायी। नरपतियों के बखेड़ा करने पर वे अकेले युद्ध में उन्हें हराकर रुक्मवती को हर लाये।

रुक्मी का भगवान कृष्ण से पुराना बैर था। राजन्! बलराम जी को पासे डालने का व्यसन था। एक बार रुक्मी बलराम जी से पासा खेलते हुये छल करने लगा। बलराम जी की जीत को रुक्मी बलात् हार कहता रहा। उस समय आकाशवाणी ने कहा—बलराम जी ने ही यह दाव जीता है। रुक्मी का यह कहना कि यह जीता है सरासर झूठ है। बलराम जी अति क्रुद्ध हो रुक्मी का वध कर डाला तथा उसके सहयोगी राजाओं को मुगदल से मार-मारकर भुर्ता बना डाला।

बासठवें अध्याय में उषा-अनिरुद्ध-मिलन की कथा कही गयी है।

भगवान श्रीशुकदेव जी ने कहा—परीक्षित्! तुम वामनावतार की कथा सुन ही चुके हो, महात्मा बलि के बड़े लड़के का नाम बाणासुर है। यह महान शिव आराधक था। वह शोणित पुर का राजा था। एक दिन जब शिव जी ताण्डव नृत्य कर रहे थे उस समय अपने हजार हाथों से नाना प्रकार के वाद्य बजाकर शिव जी को प्रसन्न कर लिया।

समस्त भूतों के एक मात्र स्वामी शिव जी ने बाणासुर से कहा—तुम्हारी जो इच्छा हो, मुझसे माँग लो। बाणासुर ने कहा—भगवन्! आप मेरे नगर की रक्षा करते यहीं निवास करें।

एक दिन वह बोला-देवाधिदेव! आप समस्त चराचर जगत के गुरु और ईश्वर हैं। आपने मुझे हजार भुजायें दी है परन्तु त्रिलोकी में आपको छोड़कर मेरे बराबर का कोई योद्धा ही नहीं मिला।

नमस्ये त्वां महादेव लोकानां गुरुमीश्वरम्।
पुंसामपूर्ण का मानां कामपूरामराङ्घ्रिपम्।।7।।

अ. 62 स्क. 10

भगवान शंकर ने तनिक क्रोध से कहा—अरे मूढ़। जिस दिन तेरी ध्वजा टूटकर गिर जायेगी उस दिन मेरे समान योद्धा तेरा धनण्ड चूर-चूर कर देगा।

बाणासुर की कन्या का नाम उषा था। कौमार्य अवस्था में एक दिन स्वप्न में परम सुन्दर अनिरुद्ध जी के साथ समागम होता देखा। स्वप्न में ही वह बोली—प्राणप्यारे! तुम कहाँ हो? स्वप्न टूट गया। वह अत्यन्त व्यथित हुयी। उषा की एक सहेली चित्रलेखा थी, उसे उसने स्वप्न की बात बतायी। सखी! मैं अपने उसी प्रियतम् को ढूँढ़ रही हूँ।

चित्रलेखा ने कहा—सखी! मैं देवता, गन्धर्व, सिद्ध, चारण, पन्नग, दैत्य, विद्याधर, यक्ष और मनुष्यों के चित्र बनाती जा रही हूँ। उसमें तुम्हारा प्रियतम जो हो उसे मुझे बता देना मैं उसे चाहे कहीं भी होगा, मैं उसे तुम्हारे पास लाऊँगी। बातों ही बातों में वह अपनी दिव्य-कला से चित्र बनाती गयी प्रद्युन का चित्र देख उषा शर्मा गयी। अनिरुद्ध के चित्र को देख स्वीकारा। परीक्षित्! उषा की सखी चित्रलेखा योगिनी थी। वह जान गयी यह चित्र भगवान श्रीकृष्ण के पौत्र का है। वह रात्रि में आकाशमार्ग से भगवान श्रीकृष्ण द्वारा सुरक्षित द्वारकापुरी पहुँची। चित्रलेखा योगसिद्धि के प्रभाव से पलंग पर सोये अनिरुद्ध जी को उठाकर शोणित पुर ले आयी और उषा को दर्शन करा दिया।

चित्रलेखा तमाज्ञाय पौत्रं कृष्णस्य योगिनी।
ययौ विहायसा राजन द्वारकां कृष्णपालिताम्।।22।।
तत्र सुप्तं सुपर्यङ्के प्राद्युम्निं योगमास्थिता।
गृहीत्वा शोणिपुरं सख्यै प्रियमदर्शयत्।।23।।

अ. 62 स्क. 10

उषा ने अपने प्रेम से अनिरुद्ध जी के मन को वश में कर लिया। आमोद-प्रमोद में समय कितना बीत गया इसका भी उन्हें ख्याल न रहा।

इधर बाणासुर से पहरेदारों ने कहा—राजन्! हमलोग आपकी अविवाहिता राजकुमारी का जैसा रंग-ढंग देख रहे हैं, वह आपके कुल पर कलंक लगाने वाला है। बाणासुर अत्यन्त क्रोधित होकर महल में आ धमका। उसने कामावतार प्रद्युम्न जी के सुन्दर पुत्र अनिरुद्ध जी को पकड़ने के लिये उद्यत हुये तो अनिरुद्ध जी ने एक वहीं पड़े परिघ द्वारा उन सबको आहत कर दिया। बाणासुर अपने सैनिकों का विनाश देख क्रोधित हो अनिरुद्ध जी को

नागपाश में बाँध लिया। उधर उषा विशाद में डूबी रोने लगी।

अब तिरसठवें अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण के साथ बाणासुर के साथ हुये युद्ध का रोमांचक वर्णन श्रीशुकदेव जी ने किया है।

इधर चार महीने बीत गये अनिरुद्ध जी का कोई अता–पता नहीं चल रहा था। एक दिन नारद जी आकर अनिरुद्ध द्वारा बाणासुर के सैनिकों का पराभव तथा बाणासुर द्वारा नागपाश में अनिरुद्ध जी को बाँधने की बात बताया।

अब श्रीकृष्ण और बलराम जी विशाल सेना लेकर बाणासुर की राजधानी घेर लिया। यह देख बारह अक्षौणी सेना लेकर बाणासुर नगर के बाहर आया। युद्ध शुरु हुआ। भगवान श्रीकृष्ण एवं भगवान शिव का बड़ा घनघोर युद्ध हुआ। अन्त में भगवान श्रीकृष्ण ने जृम्भणास्त्र से महादेव जी को युद्ध से विरत कर दिया तब वे बाणासुर से जा भिड़े। वह अपने सहस्त्र हाथों में पाँच सौ धनुष द्वारा बाण वर्षा करने लगा परन्तु भगवान श्रीकृष्ण ने एक साथ ही उसके सब धनुष बाण काट डाले तथा सारथी, रथ, घोड़ों को धराशायी कर शंखध्वनि किया। उधर मौका लगते ही बाणासुर अपने हाथों में नाना आयुध धारण किये हुये भगवान श्रीकृष्ण से भिड़ गया। तब भगवान श्रीकृष्ण ने चक्र से उसकी भुजाओं को काटना शुरू कर दिया। अपने भक्त के रक्षार्थ भगवान शंकर ने श्रीकृष्ण जी की स्तुति करते हुये बोले–प्रभो! आप परमज्योतिः स्वरूप परब्रह्म है। अखण्ड ज्योतिः स्वरूप परमात्मन्। यह बाणासुर मेरा कृपापात्र है। मैंने इसे अभयदान दिया है। अतः इस पर आप भी कृपा करें। भगवान ने कहा कि मैं इसे निर्भय करता हूँ। इसकी चार भुजायें बची रहेंगी। बाणासुर आपके पार्षदों में मुख्य होगा। महादेव जी की आज्ञा से उषा और अनिरुद्ध जी को विशाल उपहार के साथ द्वारिका भेजा गया।

शुद्ध चैतन्य आत्मा

भगवद्‌गीता में भगवान ने केवल जनक जी का ही नाम लिया है, वे जीवन–मुक्त हैं। ज्ञानी सतत् यह अनुसंधान करते हैं कि मैं न पुरुष हूँ, न स्त्री हूँ। किन्तु शुद्ध चैतन्य आत्मा हूँ।

|| श्री रामलाल प्रभवे नमः ||

सोई जानई जेहि देहू जनाई.....(3)

जगदीश राए बंसल ''अधम'' 9212434003

गतांक से आगे–

योगीराज श्री दुर्गा सिंह तोमर आगे लिखते हैं कि सन् 1988 की बात है। दिसम्बर माह में जबलपुर उच्च न्यायालय में शासन के विरुद्ध मेरा एक पिटिशन था। मैं जबलपुर एक होटल में रुक गया। उस समय मेरे क्लिष्ट संस्कारों का भोग काल चल रहा था अतः इस प्रकरण में तो सफलता की आशा नहीं थी। मगर मुझे इष्ट देव पर पूरा विश्वास था। रात को ध्यान मुद्रा में एक दृश्य देखा कि मेरे द्वारा नर्मदा किनारे तपस्या रत एक संत के प्रति किसी जन्म में अपमान एवं कष्ट पहुँचाया गया था। उस महात्मा ने मुझे श्राप दिया था। दूसरे दिन ध्यान में तन्मय होते ही गुरु आज्ञा हुई कि रात ग्यारह बजे से प्रातः पाँच बजे तक अमुक मन्त्र का जाप करो और सुबह नर्मदा में स्नान पश्चात् साधुओं को भोजन कराओ। मैंने गुरु आज्ञा का पूर्णतः पालन किया। अगले दिन जब मैं ध्यान में बैठा तो नजारा कुछ और ही था कि वही महात्मा जी मुझे बार बार आशीर्वाद दे रहे हैं। लेकिन पिटिशन के दुर्भाग्य ने मेरा पिण्ड न छोड़ा।

जितना मैं बढ़ता हूँ–उतना ये आगे बढ़ता है।
दुख साला आवारा कुत्ता–मेरे ही पीछे पड़ता है।।

हुआ यह कि पाँच जनवरी की तारीख पर मेरे वकील श्रीवास्तव जी ने कोर्ट में पेश होने से इन्कार कर दिया। कारण कि उनकी माताश्री का देहान्त हो गया और वे क्रिया कर्म–ब्रह्मभोज आदि कार्यों में व्यस्त हो गये थे। लेकिन गुरुदेव जी पर मेरी पूरी आस्था के कारण मैं विचलित नहीं हुआ। मुझे चलते–फिरते, आटो में बैठते समय बार–बार श्रीगुरुदेव जी महाराज के आदेश सुनाई देने लगे कि ''प्रयास करो.... कोशिश करो..... वकील के पास पुनः जाओ–निवेदन करो–सफलता अवश्य मिलेगी''। मगर मैंने वकील साहिब की माता की मौत के दुःख में डूबे परिवार में निज स्वार्थ के लिये दबाव डालना शिष्टाचार के विरुद्ध समझा। लेकिन सायंकाल त्रिकालदर्शी गुरुदेव जी ने मुझे ताड़नात्मक शब्दों में निर्देश दिया कि बेवकूफ, तुरन्त जाकर के वकील से निवेदन कर अन्यथा कार्य नहीं हो पाएगा।'' अब

क्या था, गुरु मेहरबान तो चेला पहलवान। गुरु आदेश से सजग होकर मैं रात्रि साढ़े आठ बजे वकील के पास गया। पाँच जनवरी को उच्च न्यायालय में पैरवी करने बारे में निवेदन किया। अब देखिए, अगाध करुणा निकेतन का चमत्कार कि पहले तो वकील साहिब आनाकानी करते रहे लेकिन फिर बोले–कि हम पूजा का सामान लेने ग्यारह बजे चलेंगे, हमारा चपड़ासी सामान खरीद लेगा और उतनी देर में हम न्यायालय में बहस कर लेंगे। इसे कहते हैं–

नजरें बदली – नजारे बदल गए।
किश्ती ने मोड़ खाया – किनारे बदल गए।।

घर वालों की आपत्ति के कारण कोर्ट के कपड़े झोले में डाल कर मुझे दे दिए। निर्धारित समय पर हम कोर्ट पहुँच गए। सिद्धों के सम्राट की लीला से वकील साहब ने जोरदार बहस की और निर्णय मेरे भाग्य विधाता जी के पक्ष में आया। गुरुदेव जय जय ....।

वस्तुतः कर्म ही प्रारब्ध का जनक है। कल्पतरु गुरु देव श्री चन्द्रमोहन जी महाराज अपने लाडलों की प्रत्यक्ष सहायता करते हैं। वे कल्याण धन किसी की आँखों में आँसू नहीं देख सकते। वे सदैव अपना वरद हस्त बच्चों के सिर पर रखते हैं। अतः कोई अनहोनी भी प्रभावहीन हो जाती है। लेकिन चन्दू काका के चश्मे से देखें तो साधक को भी गुरु मन्त्र लग्न से करते रहना चाहिए।

यह बात सन् 1978 के फरवरी माह की है। उन दिनों योगाधिपति गुरुदेव श्रीचन्द्र मोहनजी महाराज अपना योग प्रचार कार्यक्रम हरियाणा में कर रहे थे। मैंने अपने निवास स्थान ग्वालियर से अपनी विकट बीमारी के सम्बन्ध में आराध्यदेव जी को पत्र भिजवाया। पत्र पहुँचते ही दया सागर जी अपने दो–तीन पार्षदों के साथ हमारे घर आ गए। जिस पलंग पर मैं लेटा हुआ था, कृपा सिन्धू जी उसी पलंग पर बैठ कर दस मिनट के लिए ध्यान मग्न हो गए। फिर बोले कि लल्ला, जिस संस्कार को तुम भोग रहे हो, वह बहुत क्लिष्ट है। कल मैं तुम्हारे संस्कार को अपने ऊपर ले कर इसे हल्का कर दूँगा। दूसरे दिन गुरुदेव जी ने प्रातः 9.30 बजे पूजा घर में अपना पलंग डलवा कर ब्रह्मचारी रामाश्रय से अन्दर की कुण्डी लगवा लिया। अपने ऊपर दो–तीन रजाईयाँ डलवा लीं। गुरुजी को बहुत तेज ज्वर हो गया। रामाश्रय को छोड़कर किसी को भी अन्दर आने की आज्ञा नहीं थी। सायं लगभग छः बजे दरवाजा खुला, गुरु देवजी का ज्वर समाप्त हो चुका था। कुछ समय पश्चात् गुरुदेव जी मुझ

से बोले कि तुम्हारा संस्कार हल्का कर दिया है मगर अभी भी जो अवसाद शेष है, उसकी तीव्रता तुम झेलने में समर्थ्य नहीं हो। अत: अगले दिन सिद्धेश्वर जी ने पुन: संस्कार स्वयं पर लेकर, सुबह से शाम तक तीव्र ज्वर के रहते मेरे पास आए और आशीर्वादात्मक मुद्रा में बोले कि लल्ला अब जो कष्ट बचा है, तू आसानी से सहन कर सकता है। परिणामत: मैं उसी दिन से स्वस्थ होता चला गया और पूर्ण स्वस्थ हो कर शासकीय कार्य भार ग्रहण कर लिया। सत्य ही है कि भगवान भक्त से कहते हैं–

भाव का भूखा हूँ मैं – भाव ही मेरा सार है।
भाव से जो मुझे पुकारे – उसका बेड़ा पार है।।

वैसे तो योग विद्या गोपनीय है। रहस्य खोलने पर सिद्धियों को खोए जाने की सम्भावना रहती है। मगर मैं सिद्ध शिरोमणि गुरुदेव की महानता–उदारता एवं प्रेरणा से स्वयं की अनुभूतियाँ समझाने लगा हूँ। बात सन् 1985 के गर्मियों की है। मैं इन्दौर के सेन्ट्रल लॉज में ठहरा हुआ था। भोजन पश्चात् लेटते ही ध्यानस्त हो गया। मैं देखता हूँ कि भारी भीड़ मेरा पीछा कर रही है। त्रिलोकी नाथ मुझ से कहते हैं कि "बेटा, इन लोगों से तुम्हारे क्लिष्ट संस्कार हैं। पिछले जन्मों में जो जो अत्याचार तुमने किए हैं, वे सब लोग तुमसे बदला लेने को तैयार है। सावधान होकर साधना करो। श्री प्रभुजी तुम्हारी रक्षा करेंगे।" गुरुजी ने अत्याचार भी दिखाए। कईयों की राजमद में हत्यायें, सतोगुणियों का उत्पीड़न, पशु–पक्षी वध ..... इत्यादि। मेरा हृदय कांप उठा, मेरे द्वारा ऐसे अपराध कैसे? मगर सत्य को स्वीकारना ही होगा। जहर की काट नारियल का पानी नहीं हो सकता।

पश्चात्, मुझे ऐसा अनुभव होने लगा कि गुरुकृपा से मैं सूक्ष्म शरीर द्वारा ऐसे लोक में जा पहुँचा संरचना प्रकाश की बनी हुई थी। प्रकाश का ही शरीर, चारों ओर प्रकाश का ही परकोटा था। अन्दर में कई कार्यालय चल रहे थे। प्राणियों के सूक्ष्म शरीर एक–एक इंच के शीघ्रता से सामने आ रहे थे। कर्मचारी पढ़–पढ़कर बता रहे थे कि इसे इधर भेजो, इसे उधर भेजो। एक ऊँचे स्थान पर, एक महापुरुष बैठे थे, लम्बा शरीर, लम्बी गर्दन, श्यामल रंग, स्वर्ण जैसी आभा, आभूषण युक्त, मुकुट पहने थे। सम्भवत: ये यमराज या धर्मराज हो सकते हैं। उनकी आज्ञा सभी को शिरोधार्य थी। उन्होंने मुझे एक लम्बा पत्र दिया। मैंने वहीं उनके सामने पढ़ा। यह आरोप पत्र मेरे पापों का सूक्ष्म विवरण था। तीन रंग की स्याही–जघन्य अपराधों की काली, हल्के अपराधों की नीली, तथा पशु–पक्षी वध की हरी स्याही थी। प्रात: पांच बजे निद्रा टूट गई। मैं समझ गया कि मेरा कठिन समय निकट है। हमारे पितृगण भी ऊपरी लोकों से दु:खी स्थिति में नीचे उतरते दिखाई दिए।

लेकिन मुझे विश्व नियन्ता अपने गुरुदेव पर पूरा विश्वास था। विश्वास हो भी क्यों नहीं, देखिए–करुणा सागर जी मेरी बीमारी के समय आश्रम में कह दिया करते थे कि 'दुर्गा सिंह को स्वस्थ करने के लिए मुझे आश्रम की ईंट–ईंट भी बेचना पड़े तो उसे भी बेच दूँगा।'' गुरु जी ये बातें याद कर मैं रोमांचित हो जाता हूँ। इतना तो माता पिता भी नहीं कर सकते। परिणामतः 15 दिनों पश्चात् राजनैतिक कारणों से मुझे एक माह के अवकाश पर भेज दिया गया। मगर सिद्धों के सरदार गुरुदेव भगवान् की शक्तियों से मुझे वापिस बुला कर वरिष्ट महाप्रबन्धक के पद पर आसीन कर दिया।

मेरे दाता के दरबार में सब दुःख दर्द मिटाए जाते हैं।
दुनिया के सताए लोग यहाँ सीने से लगाए जाते हैं।।

(क्रमशः)

माया का आवरण हटा दे

(श्री बालकृष्ण जी गर्ग)

मैं अनाम हूँ, तू है नामी।
मैं हूँ सेवक, तू है स्वामी।
दीन–दुखी मैं, दीनबंधु तू।
दयापात्र मैं, दयासिन्धु तू।
भीतिग्रस्त मैं, तू भयहारी।
तिमिरयुक्त मैं, तू तिमिरारी।।
ज्ञानरूप तू, मैं अज्ञानी।
लहररूप मैं, तू है पानी।।
याचक हूँ मैं, तू है दाता।
ज्ञानदृष्टि दे, हे जगत्राता।।
माया का आवरण हटा दे।
'मैं–तू' का यह भेद मिटा दे।।

''ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः''

गुरु निष्ठा का एक अद्भुत प्रसंग

—अन्तूराम यादव, प्रयागराज—211004

प्रातः स्मरणीय योग योगेश्वर अनन्त श्री सद्गुरुदेव भगवान के युगल पावन चरणों में नमन करते हुए, आइए हम सब एकाग्र–चित्त होकर इस बिन्दु पर चिन्तन करें कि सद्गुरु के प्रति अटूट श्रद्धा एवं अनन्य–निष्ठा का क्या परिणाम होता है? गुरुदेव भगवान प्रायः अपने प्रवचनों में तप का उल्लेख किया करते थे। वे कहते थे कि कुछ साधक माघ–पूष की शीत लहरी में गंगा–यमुना के ठण्डे जल में खड़े होकर तप करते हैं। कुछ साधक ज्येष्ठ–वैशाख की तपती गर्मी में पंचाग्नि के घेरे में बैठ कर तप करते हैं और कुछ साधक पहाड़ की गुफाओं में अन्न–जल त्याग कर तप करते हैं। उनकी इस साधना को तप कहा जाता है, परन्तु गुरु गीता में देवाधिदेव महादेव भगवान शंकर स्वयं अपने मुखारविन्द से माता पार्वती को उपदेश देते हुए कहते हैं कि–

''गुरुर्देवो गुरुधर्मः गुरु–निष्ठा परंतपः''

अर्थात् अगर कोई साधक अपने गुरुदेव के प्रति अनन्य निष्ठा रखता है और उन्हीं के बताये हुए मार्ग पर चल कर साधना करता है उस साधक की इस साधना को भगवान शंकर ''परम्तप'' की संज्ञा देते हैं। कहने का आशय यह है कि यदि अपने गुरुदेव के प्रति हमारी अनन्य निष्ठा है तो इससे बढ़कर दूसरा कोई तप है ही नहीं। इस निष्ठा का परिणाम यह होता है कि साधक का अन्तःकरण धीरे–धीरे शुद्ध हो जाता है, उसकी वृत्ति सात्विक हो जाती है और वह निर्भय हो जाता है। जैसा कि भगवान श्रीकृष्ण ने गीता के सोलहवें अध्याय के प्रथम श्लोक में बताया है। ऐसी स्थिति में पहुँचे हुए साधक का कोई भी अनिष्ट कर ही नहीं सकता। इस तथ्य को भली–भाँति समझने के लिए एक बिल्कुल सच्ची घटना का उल्लेख किया जा रहा है। इस घटना को आपके हाथों तक पहुँचाने का केवल मात्र एक ही उद्देश्य है कि हमारी श्रद्धा अपने गुरुदेव के प्रति बढ़े और हम अनन्य–निष्ठ होकर योगमार्ग में आगे बढ़ें। प्रयागराज के ही रहने वाले हमारे एक वरिष्ठ गुरुभाई हैं जो अभी भी श्रीप्रभुजी की करुणा–कृपा से सशरीर विद्यमान हैं। उन्होंने अपने जीवन की एक सच्ची घटना बतायी जो इस प्रकार है–

हमारे आदरणीय गुरुभाई अपने निवास से अपने कार्यालय की आधी दूरी पैदल चलकर तय करते थे और आधी दूरी रिक्शे से तय करते थे। भाईजी गुरुदेव भगवान के लाडले बच्चे हैं और उनकी गुरुदेव के प्रति अटूट श्रद्धा है। सन् 1970 के दशक का समय होगा, एक दिन भाई जी शाम के समय अपने कार्यालय से पैदल चलकर उस स्थान पर आये जहाँ से वे रिक्शा पकड़ा करते थे। एक खाली रिक्शा खड़ा था उस पर वे बैठ गये। रिक्शे–वाले ने कहा बाबूजी एक और सवारी ले लें तब चलते हैं। इसी बीच एक औघड़ साधू उनके रिक्शे के पास आया और भाईजी से बड़े अधिकार के साथ कहा कि–एक चवन्नी (चार आना) निकालो और हमें दो। उसकी अकड़न भरी यह बात भाई जी को अच्छी नहीं लगी। उन्होंने उस औघड़ साधू से कहा कि क्यों निकालूँ चवन्नी और तुम्हें क्यों दूँ। पहले तुम बताओ इस चवन्नी का क्या करोगे परन्तु वह औघड़ साधू अपनी जिद पर अड़ा रहा। और कहता रहा कि यदि तुम एक चवन्नी मुझे दे दोगे तो तुम्हें अमुक–अमुक दुर्लभ वस्तुएँ प्राप्त हो जायेंगी। भाईजी भी उसके प्रलोभन में न आकर आवेश में आकर कहे कि मैं तुम्हें चवन्नी देकर तुमसे कुछ क्यों लूँ? मुझे तुमसे कुछ नहीं चाहिए। मेरे गुरुदेव सर्व समर्थ हैं अगर मुझे कुछ चाहिए तो मैं अपने गुरुदेव से माँग लूँगा। इन दोनों लोगों में विवाद होता देख वहाँ काफी भीड़ इकट्ठी हो गई। एक व्यक्ति ने भाई जी से कहा कि बाबूजी! यह तांत्रिक है और अपने तन्त्र–मन्त्र से कई लोगों का अहित कर चुका है। इससे विवाद मत कीजिए इसे चवन्नी देकर फुरसत पाइए। भाईजी को अपने गुरुदेव पर पूरा भरोसा था। वे भी अपनी बात पर अड़े रहे कि इसको मैं चवन्नी नहीं दूँगा, देखें यह हमारा क्या बिगाड़ लेता है। इसके बाद उस औघड़ साधू ने भाईजी से कहा कि तुम्हें अपने गुरुदेव पर इतना घमण्ड है। तो भाईजी ने कहा–हाँ, मुझे अपने गुरुदेव पर घमण्ड है। वे सर्व समर्थ और सर्वशक्तिमान हैं। वह औघड़ साधू क्रोध में तमतमा कर झुका और रिक्शे के पास से थोड़ी सी मिट्टी उठाया और अभिमंत्रित करके भाईजी से कहा कि अगर हिम्मत हो तो इसे ले लो, देखें तुम्हारे गुरुदेव में कितनी ताकत है? भाईजी भी श्री गुरुदेव भगवान का स्मरण करते हुए आव देखा न ताव अपना दाहिना हाथ फैला कर उससे उस मिट्टी को अपने हाथ में लेकर तुरन्त मुट्ठी बन्द कर लिया।

इसी बीच उस रिक्शे पर दूसरी सवारी आ चुकी थी। सभी आश्चर्यचकित होकर देखते रहे और औघड़ साधू भी वहीं खड़ा रहा। भाईजी ने रिक्शेवाले से कहा–चलो! उसी प्रकार मुट्ठी बन्द किये हुए भाईजी अपने निवास स्थान पर पहुँचे और श्री प्रभुजी के स्वरूप के समक्ष औघड़ साधू द्वारा अभिमंत्रित उस मिट्टी को रखना चाहा। आश्चर्य! महान् आश्चर्य!

जैसे ही भाईजी ने श्री प्रभुजी के स्वरूप के समक्ष मुट्ठी खोला, वे क्या देखते है कि मिट्टी के स्थान पर आठ दाने गेहूँ के निकले। श्री प्रभुजी की करुणा कृपा से भाईजी बिल्कुल सुरक्षित रहे, वह तांत्रिक उनका बाल–बाँका तक नहीं कर सका। काफी दिनों तक भाईजी गेहूँ के उन दानों को सुरक्षित रखे रहे जब वे अपना नया मकान बनवाने लगे तब निर्माणाधीन प्लाट के चारों कोनों पर उस गेहूँ के दो–दो दाने रखकर मकान बनवाना शुरू किया। आज भी भाईजी गुरुदेव भगवान के प्रति वैसे ही अनन्य निष्ठ है और राजी–खुशी से अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं। अनन्य–निष्ठा का क्या परिणाम होता है, उसका यह एक उत्कृष्ट उदाहरण है।

हमारे आदरणीय गुरुभाई, हमारे आप के लिए एक प्रेरणा–श्रोत हैं। उन्हीं की तरह गुरुदेव के प्रति अनन्य–निष्ठ होकर हम आप भी निर्भय होकर अनेक प्रकार के विघ्नों से अपने को बचा सकते हैं। वैसे भी हमारे शास्त्र एवं अनुभवी संतों का मत है कि जहाँ इष्ट है वहाँ अनिष्ट हो ही नहीं सकता। अपनी त्रुटियों के लिये क्षमा याचना करते हुए चन्द शब्दों के साथ मैं अपनी लेखनी को विराम देता हूँ–

''दुनिया से भला हम क्या माँगें, दुनिया तो एक भिखारन है।
हम माँगें सद्गुरुदाता से, जहाँ होता कभी इनकार नहीं।।
दरबार हजारों देखे मगर, तेरे दर सा कोई दरबार नहीं।''

सादर जय गुरुदेव।

श्री प्रभुजी का एक अकिंचन बालक
301, न्यू मेहदौरी, तेलियर गंज, प्रयागराज–211004
फोन–09936678368

लोग कहते हैं ''पहले योग्य बनो, फिर इच्छा करो।'' वेदान्त कहता है ''पहले योग्य बनो, इच्छा करने की कोई आवश्यकता नहीं।'' जो पत्थर दीवार में लगाए जाने योग्य है, वह रास्ते में पड़ा हुआ कभी नहीं मिल सकता। यदि तुम परमात्मा के अटल नियम द्वारा अपने में योग्यता उत्पन्न करोगे तो प्रत्येक वस्तु आप से आप तुम्हारी ओर चली आवेगी। जलता हुआ लैम्प पतंगों को बुलाने नहीं जाता, पतंगे स्वयं लैम्प के चारों ओर इकट्ठे होते हैं।

मन्त्रयोग विज्ञान

—पूर्णचन्द्र पन्त

मन की एकाग्रता से योग आरम्भ होता है। योगशास्त्र में मन की एकाग्रता के लिये जितने उपाय बताये गये हैं उनमें मन्त्रयोग प्रमुख है। "मननात् त्रायत इति मन्त्रः" इस परिभाषा के अनुसार जपकर्त्ता के मन को एकाग्र करना एवं सब प्रकार विघ्नों और भयों से उसकी रक्षा मन्त्र शब्द का अर्थ है। तन्त्रशास्त्र में कहा गया है—

मोचयन्ति च संसारात योजयन्ति परे शिवे।
मनन त्राण धर्मित्वात्तेन मन्त्रा इति स्मृताः।।

अर्थात्—मन्त्र जपकर्त्ता साधक को संसार बन्धन से छुड़ाकर परम कल्याणकारी परमेश्वर से मिला देते हैं। मनन त्राण—धर्मी होने के कारण ही उन्हें मन्त्र कहा जाता है।

मन्त्रयोग इस सिद्धान्त पर आधारित है—सृष्टि से पूर्ण केवल एक परमात्मा थे। उनके मन में सृष्टि रचना का भाव आया और भाव से नाम—रूपात्मक यह संसार बना। जिस क्रम से सृष्टि हुई है उससे विपरीत मार्ग से लय होना भी निश्चित है। इसलिये मुक्तिलाभ के लिये साधक को सर्वप्रथम नाम—रूप का ही आश्रय लेना पड़ता है। नाममय शब्द अर्थात् मन्त्र और भावमय रूप का अवलम्बन लेकर भवग्राही परमात्मा में चित्तवृत्ति का लय हो जाने से जीव बन्धनमुक्त हो जाता है।

योगशास्त्र में मन्त्रयोग को स्वाध्याय कहा गया है और उसका फल सिद्धों की कृपा तथा समाधि की प्राप्ति बताया गया है। योगदर्शन में साधनपाद के पहले सूत्र में क्रियायोग के अन्तर्गत स्वाध्याय शब्द की परिभाषा करते हुए भाष्यकार श्री व्यासदेव जी महाराज ने कहा है—

ओंकार आदि पवित्र मन्त्रों का जप करना या वेद, उपनिषद, गीता, महाभारत, भागवत्पुराण आदि मोक्षदाता ग्रन्थों का पाठ और मनन करना स्वाध्याय कहलाता है। योगदर्शन के ही समाधिपाद के सूत्र संख्या 27, 28 और 29 में महर्षि पतंजलिदेव जी महाराज ने मन्त्रजप की महिमा इस प्रकार बताई है—

तस्य वाचकः प्रणवः। तज्जपस्तदर्थ भावनम्।
ततः प्रत्यक् चेतनाऽधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।

अर्थात्–उस ईश्वर का नाम ओंकार है। इसलिये ओंकार का जप करना चाहिये और उसके साथ साथ नामी परमेश्वर का ध्यान करना चाहिये। ऐसा करने से योगमार्ग के सभी विघ्न दूर हो जाते हैं और साधक को अन्तरात्मा के दर्शन हो जाते हैं। इस विषय को अधिक स्पष्ट करते हुए प्रातः स्मरणीय श्री व्यासदेव जी महाराज ने अपने भाष्य में लिखा है–

स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याय योग सम्पत्या परमात्मा प्रकाशते।।

अर्थात्–साधक स्वस्तिकासन, पद्मासन, सिद्धासन आदि किसी आसन पर अपनी गर्दन, सिर एवं कमर को एक सीध में रखता हुए बैठे। इस प्रकार बैठकर पहले तो कम से कम एक घंटा अपने गुरुमन्त्र अथवा इष्टमन्त्र का जप करें। जप करते–करते जब मन एकाग्र होने लगे तो अपने इष्टदेव का ध्यान करना आरम्भ कर दे। ध्यान में यदि मन न लगे तो पुनः जप करना आरम्भ कर दें। जप में यदि मन न लगे तो दो–चार मिनट ते ओंकार का उच्च स्वर से जप करना चाहिये और उसके बाद अपने मन्त्र का उपांशुजप करना चाहिये। तदनन्तर पुनः ध्यानाभ्यास करना चाहिये। इस प्रकार जप के बाद ध्यान और ध्यान के बाद जप का दीर्घकाल तक अभ्यास करने पर साधक को अन्तरात्मा के दर्शन हो जाते हैं।

मन ही मनुष्य के बन्धन और मोक्ष का कारण है मन अत्यन्त शक्तिशाली है किन्तु संकल्प–विकल्पात्मक होने से वह प्रतिक्षण किसी न किसी विषय पर चिन्तन करता रहता है। जिससे उसकी शक्तियाँ बिखरी रहती हैं। एक समय में एक ही विषय पर चिन्तन हो सकता है। यदि कोई दूसरा विषय सामने आये तो मन उसी विषय पर ही चिन्तन करना आरम्भ कर देता है। उसके चिन्तन का पहला विषय स्वतः ही छूट जाता है। मन्त्रयोग मन की चंचलता को मिटाने का, उसके चिन्तन की दिशा बदलने का और उसे अन्तर्मुखी बनाने का एक उत्कृष्ट एवं सरल साधन है। मन को मन्त्ररूपी डोरी से बाँधकर सब ओर से हटाकर आत्मचिन्तन में लगाये रखना मन्त्रयोग कहलाता है।

मन्त्रजप दो प्रकार का होता है–वाचिक और मानसिक। वाचिक जप के पुनः दो भेद हैं–

(1) ऊर्ध्व और (2) उपांशु

इसी प्रकार मानसिक जप के भी दो भेद हैं–

(1) मनन और (2) ध्यान।

बोलकर किसी मन्त्र का जप करना उर्च जप कहलाता है। यदि जप करते हुए आवाज बाहर न सुनाई दे किन्तु होठ और जिह्वा हिलती रहे तो वह जप उपांशु जप कहलाता है। श्वास–प्रश्वास द्वारा मन्त्र का जप या मन ही मन मन्त्र का मनन करते रहना मानसिक जप कहलाता है।

उपनिषदों में मन्त्रयोग की महिमा का स्थान–स्थान पर वर्णन मिलता है। श्वेताश्वतरोपनिषद में कहा गया है कि–मन्त्रजप और ध्यानाभ्यास द्वारा अन्तःकरण का मंथन करते रहने से अपने ही अन्दर छिपे हुए परमात्मा प्रकट हो जाते हैं।

कठोपनिषद में ओंकार के जप की महिमा के वर्णन में कहा गया है–

एतद् ह्येवाक्षरं ब्रह्म एतद् ह्येवाक्षरं परम्।
एतद् ह्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्।।
एतदालम्बनं श्रेष्ठं एतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं। ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते।।

यह अविनाशी ओंकार ही परमेश्वर का स्वरूप है और यही पर ब्रह्म पुरुषोत्तम है। अतः इस तत्त्व को समझकर साधक इसके द्वारा अपनी अभीष्ट वस्तु को प्राप्त कर सकता है।

यह ओंकार ही परमेश्वर की प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन है। इससे परे और कोई सहारा नहीं है। इस रहस्य को समझकर जो साधक श्रद्धापूर्वक इस ओंकार पर निर्भर रहता है वह परमात्मा को पा लेता है, यह निश्चित बात है। इसलिये–

वचसा तज्जपेन्नित्यं वपुषातत्समभ्यसेत्।
मनसा तन्स्मरेन्नित्यं तत्परं ज्योतिरोमिति।।
शुचि वाप्यशुचिर्वापि यो जपेत्प्रणवं सदा।
न स लिप्यति पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।।

उस परम ज्योति स्वरूप ओम का वाणी से सदा जप करते रहना चाहिए। शरीर से सदैव उसका अभ्यास करना चाहिये। अर्थात् अष्टांगयोग का अभ्यास करना चाहिये और मन से मन्त्र के नामी परमेश्वर का निरन्तर चिन्तन करते रहना चाहिये।

साधक चाहे पवित्र हो और चाहे अपवित्र हो उसे दोनों ही अवस्थाओं में सदैव मन्त्र जाप करते रहना चाहिये। जो व्यक्ति ऐसा करता है वह पाप से कभी लिप्त नहीं होता और संसार में रहता हुआ भी कमलपत्रवत् उससे निर्लिप्त रहता है।

मन्त्र चाहे कोई भी हो वह अनन्त शक्ति सम्पन्न होता है। सभी मन्त्रों के ऋषि और देवता होते हैं। किन्तु गुरुप्रदत्त मन्त्र की विशेष महिमा है। उसकी शक्ति की तो कल्पना तक

नहीं की जा सकती। गुरुमन्त्र में और ऑंकार में कोई अन्तर नही है। क्योंकि सद्गुरु स्वयं की ऑंकार स्वरूप होते हैं।

जब वे किसी को मन्त्रदीक्षा देते हैं तो मन्त्र को चिन्मय बनाकर उसे शिष्य को प्रदान करते हैं। मन्त्र के साथ गुरुदेव का सूक्ष्म शरीर अर्थात् उनका मन भी शिष्य के अन्दर प्रवेश कर जाता है। तब वह मन्त्र ही शिष्य का मार्गदर्शक और संरक्षक बन जाता है। शिष्य अपने गुरुमन्त्र का जितना अधिक जप करेगा वह गुरुदेव की उतनी ही अधिक समीपता अनुभव करेगा और उतनी ही अधिक उस पर सद्गुरु की कृपा होगी।

मन्त्रयोग का वैज्ञानिक आधार यह है कि–जब हम किसी मन्त्र का उच्च स्वर से जप करते हैं तो उससे शक्ति की विशेष प्रकार की तरंगें उठती हैं जो कि –हमारे शरीर एवं आसपास के वातावरण को प्रभावित करती हुई महाकाश में व्याप्त हो जाती हैं, उपांशु जप एवं मानसिक जप से मस्तिष्क की नस–नाड़ियों में स्पन्दन होता है और विद्युत तरंगें उठती हैं जो कि–साधक के पूरे नाड़ी चक्र को एवं मन और बुद्धि को प्रभावित करती हुई अन्तर्जगत के सूक्ष्म आकाश में व्याप्त हो जाती हैं। परिणामस्वरूप मन की चंचलता समाप्त हो जाती है और वह बाहरी संसार से हटकर अन्तर्मुखी बनने लग जाता है।

श्वास–प्रश्वास से मन्त्रजप का अभ्यास परिपक्व हो जाने पर श्वासों की गति मूलाधार से लेकर आज्ञाचक्र पर्यन्त हो जाती है। जिससे मूलाधार चक्र पर धक्का लगते रहने से कुण्डलिनी शक्ति जागृत हो जाती है तथा मूलाधार आदि चक्रों के दर्शन होने आरम्भ हो जाते हैं।

दूसरा वैज्ञानिक आधार यह है कि –यह सृष्टि–पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश इन पाँच भूतों से बनी हुई है। स्थूल भूतों की अपेक्षा उनके सूक्ष्म रूपों में अधिक शक्ति होती है तथा उनसे भी अधिक शक्तिशाली उनकी तन्मात्रायें होती हैं।

उदाहरण के लिये पृथ्वी एक महाभूत है। इसमें पैदा होने वाली वनस्पतियाँ इसका स्थूल रूप हैं। ये वनस्पतियाँ सब प्राणियों को पुष्ट करती हैं। अतः इसमें पोषण करने की शक्ति होती है। किसी पदार्थ से निकाला गया सत उस पदार्थ से अधिक शक्तिशाली होता है, वनस्पतियों से ही तैयार किया जाने वाला इन्जेक्शन पृथ्वी तत्त्व का ही सूक्ष्म रूप है जो कि–उन वनस्पतियों से कई गुणा अधिक प्रभावकारी होता है। लोहा, सोना, चाँदी, मोती आदि धातुओं का सूक्ष्म रूप होने के कारण धातु से अधिक प्रभावकारी होती हैं। गन्धक, लोहा, रेडियम आदि धातुओं के सूक्ष्म परमाणुओं से बना हुआ परमाणु बम कुछ ही मिनटों में सारे विश्व को समाप्त करने की सामर्थ्य रखता है।

ठीक इसी प्रकार आकाश महाभूत का सूक्ष्म रूप (तन्मात्रा) शब्द है। ''शब्द गुणात्मकं–आकाशम्'' इस परिभाषा के अनुसार शब्द ही आकाश का गुणधर्म है। मन्त्र शब्दों से बने होते हैं। अतः आकाश तत्व की तन्मात्रा होने के कारण मन्त्र स्वतः ही शक्ति का रूप होता है। जहाँ शब्द होता है वहाँ उस शब्द से विस्फोट भी अवश्य होता है और जहाँ विस्फोट अथवा कम्पन होता है वहाँ शक्ति अवश्य प्रकट होती है।

मन्त्र का बार–बार उच्चारण करने से उसे बार–बार जपने से जो घर्षण होता है उससे ठीक उसी प्रकार शक्ति प्रकट हो जाती है जिस प्रकार आकाश में दो बादलों के घर्षण से (उनका आपस में टकराने से) बिजली प्रकट हो जाती है।

आरम्भ में साधक को उपांशु जप करना चाहिये। अर्थात् होंठ और जिह्वा हिलती रहे और आवाज बाहर न निकले। कुछ महीने तक प्रगाढ़ श्रद्धा के साथ, निरन्तर उपांशु जप करते रहने के बाद मन ही मन मन्त्रजप का अभ्यास करना चाहिये। एक दो वर्ष तक निरन्तर मानसिक जप करने के फलस्वरूप मन्त्र मन में प्रवेश कर जाता है। तब वह जप अजपा–जप में बदल जाता है और बिना प्रयास के ही मन ही मन जप होने लगता है। जब मानसिक जप का अभ्यास परिपक्व हो जाता है तो वह मन्त्र बुद्धि में प्रवेश कर जाता है। जिससे साधक की बुद्धि में सत्य का वास हो जाता है, उस स्थिति में वह जो कुछ कहता है, देखता है या अनुभव करता है वह सब सत्य ही होता है। दूर–दूर घट रही घटनायें और भूत–भविष्य का उसे ज्ञान होने लग जाता है। कई बार जप करते–करते जप ध्यान में बदल जाता है और उसे दिव्य लोकों के सिद्ध पुरुषों एवं अपने इष्टदेव के दर्शन हो जाते हैं।

कभी–कभी वही जप मन्त्रयोग से लययोग में बदल जाता है और साधक की अपने इष्टदेव में, भगवान सदाशिव, गणपति देव या अखण्ड मण्डलाकार व्यापक तेज में लयता हो जाती है। उस समय वह अपने आपको बिल्कुल भूल जाता है और उसे अपना स्वरूप अपने इष्टदेव का स्वरूप ही नजर आता है।

उस समय वह ऐसा अनुभव करता है कि–यह सब मैं ही हूँ, मेरे अतिरिक्त और कोई सत्ता है ही नहीं। इस स्थिति को योगशास्त्र में अस्मितानुगत समाधि कहा जाता है। इसे ही राजयोग भी कहा जाता है जिसकी अगली श्रेणी निर्बीज समाधि (असम्प्रज्ञात योग) है। इस प्रकार निरन्तर मन्त्रजप करते रहने से ज्यों–ज्यों जप में सूक्ष्मता आती है त्यों–त्यों योगाभ्यासी के अन्दर शक्तियों का विकास होता जाता है। मन्त्रजप के फलस्वरूप अन्तःकरण की पूर्ण शुद्धि हो जाने से उसकी समाधि उत्तरोत्तर परिपक्व होती जाती है।

वस्तुतः मन्त्रदीक्षा से ही योग आरम्भ होता है। योग की चार श्रेणियाँ–मन्त्रयोग,

लययोग, हठयोग और राजयोग इनमें मन्त्रयोग सर्वप्रथम है। मन्त्रयोग से साधक राजयोग और सिद्धयोग तक पहुँचता है। यही कारण है कि–आदि योगी योगेश्वर श्रीकृष्ण ने गीता में **''यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि''** कहकर मन्त्रयोग को अपना स्वरूप बताया है।

अतः हमें अपने जीवन को योगमय बनाने के लिये मन्त्रजप का अभ्यास बढ़ाना चाहिये।

ध्यान–साधना की परम्परा कायम हो!

हमारे पूर्वजों ने ज्ञान–विज्ञान, कला–कौशल और सुख–समृद्धि का ज्ञान स्कूलों एवं कॉलेजों में जाकर नहीं लिया। उन्होंने अपनी अन्तःप्रेरणा और अनुभवों से ही सीखा कि ध्यान मन का मालिक बना देता है, अन्यथा जीवन भर की गुलामी ही गुलामी है। सच्ची स्वतन्त्रता मन के मालिक बनने में ही है। ध्यान हमारे भीतर के अनन्त ज्ञान को उद्घाटित करता है। इसलिए बचपन से ही ध्यान साधना की परम्परा, परिवार में, डाली जानी जरूरी है।

ध्यान–साधना से सहज–भाव अपने आप स्वास्थ्य लाभ होता है। ध्यान स्व में स्थित करता है और स्वास्थ्य शब्द का अर्थ भी–स्व स्थित, का संकेत करता है। अतः ध्यान ही स्वास्थ्य है और स्वास्थ्य ही ध्यान है। ये एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। ध्यान से हमारी छिपी शक्ति जो अनन्त है, जाग्रत होती है और तब हमें स्वास्थ्य भी मुफ्त मिलता है। लेकिन हमें यह मंजूर नहीं। स्वास्थ्य का खजाना हमारे अन्दर भरा पड़ा है, परन्तु हम उसे बाहर ढूँढने का व्यर्थ श्रम करते हैं और रोग हटाने के चक्कर में उलझते रहते हैं। आँख बन्द कर स्वरूप को जानिये और स्थित हो जाइये। इस साधना में एक क्षण ही तो लगता है।

–मोहनलाल

चित्त की एकाग्रता का सरल साधन—

प्रच्छर्दन विधारणाभ्यां वा प्राणस्य

—श्री जगदीशनारायण उपाध्याय

प्रस्तुत प्राणायाम की क्रिया व्युत्थान संस्कारों से संस्कृत, पा०यो० के सूत्र (2/50–51) में वर्णन किये गये प्राणायाम की विधि सम्पादन करके आये। जिन्होंने बाहर और भीतर के विषयों के चिन्तन का त्याग कर दिया है। दग्धबीज भाव को प्राप्त अत्यन्त सात्त्विक अक्लिष्ट वृत्ति वाले व्यास–भाष्य टीकाकार पं. वाचस्पति मिश्र के अनुसार—

प्रसुप्ता स्तत्त्वलीनानां,
तन्ववस्थाश्च योगिनाम्।
विच्छिन्नोदाररूपाश्च,
क्लेशाविषय सङ्गिनाम्।।

केवल तत्त्वलीन विदेह और प्रकृतिलीन योगियों के लिए है। जिनका स्नेह राग नहीं विराग है और जिनके क्लेश प्रसुप्त और तनु है। उन अविद्या अर्थात् विपर्य ज्ञान वासना वाले जिसका अर्थ—अनादि विपर्यय ज्ञानजन्य वासना है, उन्हीं साधकों के लिए यह प्राणायाम संयोग का हेतु है।

उन साधकों के लिए यह प्राणायाम चित्त की एकाग्र स्थिति उत्पन्न करता है। इस प्राणायाम के विषय में महर्षि वशिष्ठजी का एक सुन्दर वाक्य आया है—

बीजे चित्तवृत्तस्य,
प्राणस्पन्दन वासने।
एकस्मिश्चतपो: क्षीणो,
क्षिप्रं द्वे अपि नश्यति।।

(वशिष्ठ वाक्य)

भावार्थ—चित्तरूपी वृक्ष के दो बीज हैं—प्राण स्पन्दन अर्थात् प्राणों की निरन्तर क्रिया और दूसरी वासना। इन दोनों में से एक के क्षीण (सूक्ष्म) होने से दूसरा भी शीघ्र ही क्षीण (सूक्ष्म) हो जाता है।

सब इन्द्रियों का काम प्राण के व्यापार से चलता है और मन तथा प्राण का अपने–अपने

व्यापार में परस्पर एक–सा ही योग–क्षेम (अप्राप्ति की प्राप्ति, योग और प्राप्त की रक्षा क्षेम) है।

''प्रच्छर्दन विधारणाभ्यां वा प्राणस्य'' के बारे में व्याख्याकार व्यास मुनि ने निम्न शब्दों का प्रयोग किया है–

कोष्ठ्यस्य वायोर्नासिकापुटाभ्यां प्रयत्नविशेषवमनं प्रच्छर्दनम्, विधारणं प्राणायामः ताभ्यां वा मनसः स्थिति सम्पादयेत्।

(व्यास भाष्य 1/34)

भावार्थ–कोष्ठ स्थिति (कोठ में रहने वाली) वायु का विशेष प्रकार से बाहर वमन करने (एकदम नासिका के दोनों छिद्रों द्वारा बाहर फेंकने) को प्रच्छर्दन कहते हैं। उस बाहर वमन की हुई वायु को वहीं रोक देने को विधारणा कहते हैं। प्रच्छर्दन और विधारणा दोनों प्राणायामों से मन की स्थिति को सम्पादन करे। प्रच्छर्दन और विधारणा प्राणायाम योग–क्षेम दोनों ही कार्य करने में सक्षम हैं।

इसीलिये कहा गया है कि प्राण सब इन्द्रियों की वृत्तियों को रोक कर मन की एकाग्रता करने में समर्थ होता है। प्राणायाम सब दोषों का नाशक है–

दह्यन्ते ध्मायमानानां,
धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते,
दोषाः प्राणस्य निग्रहात्।

(मनुस्मृति)

भाव–जैसे अग्नि संयोग से धातु के मल नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही इन्द्रियों के दोष भी प्राण के रोकने से नष्ट हो जाते हैं। दोषों से ही चित्त की वृत्तियाँ विक्षिप्त होती हैं। प्राणायाम के दोषों को दूर करके चित्त की एकाग्रता करने में समर्थ होता है।

विशेष वक्तव्य पा० यो० सूत्र (1/34) में आये इस प्राणायाम के प्राण चित्त के सदृश प्राण ज्ञान भी योग–मार्ग के पथिक के लिए आवश्यक है। प्राण श्वांस नहीं है जैसा कि कुछ व्यक्ति समझते है और न आत्म तत्त्व है जैसा कि कई पाश्चात्य विद्वान मानते हैं, किन्तु प्राण वह तत्व है जिससे श्वास–प्रश्वास आदि समस्त क्रियायें एक जीवित शरीर में होती हैं। सृष्टि के आरम्भ में पाँचों स्थूल भूत, लोक–लोकान्तर और सारे जङ्गम तथा स्थावर पदार्थ अपने उपादान कारण आकाश से प्राण–शक्ति से सहारा पाकर जीवित रहते है और प्रलय के

समय इसी का आश्रय न पाकर कार्य रूप से नष्ट होकर अपने कारण रूप आकाश में मिल जाते हैं।

सर्वाणि इवा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते, आकाश प्रत्यस्तं यन्ति।

(छा. 1/9/1)

सारे भूत आकाश से उत्पन्न होते हैं और आकाश में ही लीन हो जाते हैं।

सर्वाणि इवा इमानि भूतानि प्राण मेवामिसं विशन्ति प्राणमभ्युज्जिदृते।

(छा. 1/11/5)

सब भूत प्राण में लीन होते हैं और प्राण होते हैं।

भौतिक पदार्थों में सबसे अधिक व्यापकता सूचक आकाश और सबसे अधिक शक्ति का प्रकाश (ज्ञापक) प्राण माना गया है। इसलिये परमात्मा की व्यापकता को आकाश से और ज्ञानमय सर्व शक्तिमत्ता को प्राण से निर्दिष्ट किया गया है।

प्राणं देवा अनुप्राणन्ति,
मनुष्याः पशनुश्च ये।
प्राणो हि भूतानामायुः,
तस्मात्सर्वायुष मुच्यते।।

(तै० उ० ब्रह्म. सू. मनु 3)

देवता प्राण के सहारे सांस लेते हैं और जो मनुष्य तथा पशु हैं वे भी (प्राण के सहारे सांस लेते हैं)। प्राण सब वस्तुओं का आयु है, इसलिये सर्वायुष (सबका आयु) कहलाता है।

प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्, प्राणद्धयेन खल्विमानि भूतानि जायन्ते। प्राणेन जानाति जीवन्ति प्राणं प्रयन्त्यमिसं विशन्तीति।

(तै० उ० भृगुवल्ली अनु. 3)

उसने प्राण को ब्रह्म जाना, प्राण से ही सब भूत उत्पन्न होकर प्राण से जीते हैं और मरते हुए प्राण में प्रवेश करते हैं।

सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रश्नोपनिषद् में बड़े सौन्दर्य के साथ प्राण का वर्णन किया गया है।

तस्मै स होवाच प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा स मिथुन मुत्पादयते। रयिं च प्राण चैत्येती मे बहुधा प्रजाः करिष्यति इति।

(प्रश्नोपनिषद् 1/4)

प्रजापति (हिरण्यगर्भ) ने एक जोड़ा उत्पन्न किया रवि और प्राण। आकाश से उत्पन्न हुए वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी और इनके परमाणु से लेकर बड़े–बड़े तारागण और सूर्य–मण्डल सब रयि हैं और वह शक्ति, जिसमें कम्पन हो रहा है, जिससे यह स्थिर रहकर अपना कार्य कर रहे हैं प्राण है अथवा यों समझो कि सारा ब्रह्माण्ड एक बड़ा वाष्प–यन्त्र है। प्राण वाष्प है, जिससे इस मशीन के सारे पुर्जे चल रहे हैं और हिरण्यगर्भ इंजीनियर के सदृश हैं। जो नियम और व्यवस्था के साथ ज्ञानपूर्वक प्राणरूपी वाष्प से ब्रह्माण्डरूपी मशीन को चला रहा है। प्राण जीवन–शक्ति है और रयि मूर्त तथा अमूर्त सारे पदार्थ हैं, जो प्राण–शक्ति से अपने व्यक्तित्व को रखते हुए कार्य कर रहे हैं। प्राण धन–विद्युत है और रयि ऋण–विद्युत है। समष्टि प्राण को उपनिषदों में मातरिश्वा और सूत्रात्मा कहा गया है। यह प्राण समष्टि रूप से सारे ब्रह्माण्ड को चला रहा है। इसी प्रकार व्यष्टि रूप से न केवल मनुष्य के पिण्ड शरीर को ही नहीं, किन्तु सारे जड़ पदार्थ–वृक्ष, लता आदि चेतन–कीट, पतंगे जलचर, पशु–पक्षी आदि सारे शरीर इससे जीवन पा रहे हैं। इसलिये ये सब 'प्राणी एवं प्राणधारी' कहलाते हैं। सब इन्द्रियों का कार्य प्राण–शक्ति से चल रहा है, इसलिये उपनिषदों में कहीं–कहीं प्राण शब्द इन्द्रियों के लिए भी प्रयुक्त हुआ है।

प्राणायाम के तीन भेद हैं–रेचक श्वास को नासिका छिद्रों द्वारा बाहर निकालना, पूरक–नासिका छिद्रों द्वारा श्वास को अन्दर ले जाना और कुम्भक–श्वास को बाहर अथवा अन्दर रोक देना। इस प्राणायाम **''प्रच्छर्दन विधारणाभ्यां वा प्राणस्य''** सूत्र में केवल दो भेद रेचक और कुम्भक बताये हैं।

इस प्राणायाम को अभ्यासीगण ध्यानपूर्वक भिन्न प्रकार दोनों नथनों से बाहर–पच्चीस, पचास अथवा सौ बार श्वास फेंकें। अन्दर लेने की आवश्यकता नहीं, केवल बाहर फेंकते रहें, अन्दर स्वयं श्वास आता रहेगा। इस मात्रा में बाहर फेंकने के पश्चात् एक–साथ बाहर रोक दें। सामर्थ्य अनुसार बाह्य कुम्भक करें, उसके पश्चात् अन्दर लेकर अभ्यान्तर कुम्भक करें। इसका समय बाह्य कुम्भक के बराबर या आधा रख सकते हैं। अभ्यांतर कुम्भक के ऊपर ध्यान रखें।

मनुष्य शरीर में वृत्ति के कार्य–भेद से इस प्राण को मुख्यतया दस भिन्न–भिन्न नामों से विभक्त किया गया है–

प्राणोऽपान समानश्चो,
दानव्यानो च वायवः।

नागः कूर्मोऽथ कृकरो,

देवदत्तो धनंजयः।।

प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनञ्जय–ये दस प्रकार के वायु अर्थात् प्राणवायु हैं।

प्रश्नोपनिषद् में महर्षि पिप्लाद ने आश्वलायन ऋषि के तीसरे प्रश्न का समाधान करते हुए मुख्यतया प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान का वास–स्थान नीचे निम्नलिखित बतलाया है–

जिस प्रकार भूमण्डल का चक्रवर्ती सम्राट भिन्न–भिन्न ग्राम, मण्डल, जनपद आदि में पृथक्–पृथक् अधिकारियों की नियुक्ति करता है और उनका कार्य बाँट देता है। उसी प्रकार सर्वश्रेष्ठ प्राण भी अपने अंग–स्वरूप प्राणों को शरीर के पृथक्–पृथक् स्थानों में पृथक्–पृथक् कार्य के लिए नियुक्ति कर देता है।

प्राण–अपान और समान इन तीनों का वास–स्थान और कार्य–

पायुपस्थेऽपानं चक्षुः श्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रातिष्ठते मध्ये तु समानः। एष ह्येतत्हुतमन्नं समं नयति तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति।।5।।

व्याख्या–वह स्वयं तो मुख और नासिका द्वारा विचरता हुआ नेत्र और श्रोत में स्थित रहता है तथा गुदा और उपस्थ में अपान को स्थापित करता है। उसका काम मलमूत्र को शरीर से बाहर निकाल देना है। रज, वीर्य और गर्भ को बाहर करना भी उसी का काम है। शरीर के मध्य भाग–नाभि में समान को रखता है। यह समान वायु को ही प्राण रूप अग्नि में हवन किये हुए उदर में डाले हुए अन्न को अर्थात् उसके सार को सम्पूर्ण शरीर के अंग–प्रत्यंगों में यथायोग्य समभाव से पहुँचाता है। उस अन्न के सारभूत रस से ही इस शरीर में ये सात ज्वालाएँ अर्थात् समस्त विषयों को प्रकाशित करने वाले दो नेत्र, दो कान, दो नासिकायें और एक मुख (रसना)–ये सात द्वार उत्पन्न होते हैं। उस रस से पुष्ट होकर ही ये अपना–अपना कार्य करने में समर्थ होते हैं।

ध्यान की गति का वर्णन–

हृदि ह्येष आत्मा अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासांशतं शतमेकैकस्यॉं द्वासप्ततिर्द्वासप्तति प्रतिशाखानाडीसहस्त्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति।। 6 ।।

व्याख्या–इस शरीर में जो हृदय प्रदेश है, जो जीवात्मा का निवास स्थान है, उसमें एक सौ मूल भूत नाड़ियाँ हैं, उनमें से प्रत्येक नाड़ी की एक–एक सौ शाखा नाड़ियाँ हैं और प्रत्येक

शाखा–नाड़ी की बहत्तर हजार प्रति शाखा नाड़ियाँ हैं। इस प्रकार इस शरीर में कुल 72 करोड़ नाड़ियाँ हैं, इन सबमें व्यान वायु विचरण करता है।

उदान का कार्य व स्थान–

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्य लोकं नयति पापेन पाप–शुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्।7।

भावार्थ–उन ऊपर बतलाई हुई बहत्तर करोड़ नाड़ियों से भिन्न एक नाड़ी और है, जिसको 'सुषुम्ना' कहते हैं जो हृदय से निकल कर ऊपर मस्तक में गई है। उसके द्वारा उदान वायु शरीर में ऊपर की ओर विचरण करता है। इस प्रकार आस्वालायन के तीसरे प्रश्न का उत्तर संक्षेप में देते हैं, जो मनुष्य पुण्यशील होता है, जिसके शुभ कर्मों के भोग उदय हो जाते हैं, वह उदान वायु ही अन्य सब प्राण और इन्द्रियों सहित वर्तमान शरीर से निकलकर पुण्य–लोकों में अर्थात् स्वर्गादि उच्च–लोकों में ले जाता है। पाप–कर्मों से युक्त मनुष्य को शूकर–कूकर पाप–योनियों में और रौरवादि नरकों में में ले जाता है तथा जो पाप और पुण्य दोनों प्रकार का मिश्रित फल भोगने के लिए अभिमुख हुए रहते हैं, उनको मनुष्य शरीर में ले जाता है।

याज्ञवल्क्य मुनि ने इस दस प्राण का निम्न शब्दों में वर्णन किया है–

निः श्वासोच्छ्वास कारणाश्च,
प्राण कर्मेति कीर्तिता।
अपानवायोः कूर्मेतद,
विष्ठमूत्रादि विसर्जनम्।।
हानोपादानं चेष्टादि,
व्यानकर्मेति चेप्यते।
उदानकर्म तत्प्रोक्तं,
देहस्योन्नयनादियत्।।
पोषणादि समानस्य,
शरीर कर्म कीर्तितम्।
उद्गारादि गुणो यस्तु,
नाग कर्मेति चोप्यते।।
निमीलनादि कर्मस्य,
क्षुतं वै कृकरस्य च।

देवदत्तस्य विप्रेन्द्र तन्द्री,

कर्मेति कीर्तितम्।

धनञ्जस्य शोकादि,

सर्वकर्म प्रकीर्तितम्।।

(योगी याज्ञवल्क्य 4/66–69)

भावार्थ—श्वास का अन्दर ले जाना और बाहर निकालना, मुख और नासिका द्वारा गति करना, भुक्त अन्न–जल पचाना और अलग करना, अन्न को पुरीय पानी को पसीना और मूत्र तथा रसादिक को वीर्य बनाना प्राण वायु का कार्य है। हृदय से लेकर नासिका–पर्यन्त शरीर के ऊपरी भाग में वर्तमान है। ऊपर की इन्द्रियाँ सभी उसके अधीन हैं।

समान—देह के मध्य भाग में नाभि से हृदय तक वर्तमान है। पचे हुए रसादि को सब अंगों और नाड़ियों में बराबर बाँटना इसका काम है।

व्यान—इसका मुख्य स्थान उपस्थ–मूल से ऊपर है, सारी स्थूल और सूक्ष्म नाड़ियों में गति करता हुआ शरीर के सब अंगों में रुधिर का संचार करता है।

उदान—कण्ठ में रहता हुआ सिर–पर्यन्त गति करने वाला है, शरीर को उ..ये रखना इसका काम है। उसके द्वारा शरीर के व्यष्टि प्राण का समष्टि प्राण से सम्बन्ध है। उदा.. द्वारा ही मृत्यु के समय सूक्ष्म शरीर का स्थूल शरीर से बाहर निकलना तथा सूक्ष्म शरीर ..े कार्य गुण वासनाओं और संस्कारों के अनुसार गर्भ में प्रवेश होकर होता है। योगीजन इसी के द्वारा स्थूल शरीर से निकल कर लोक–लोकान्तर में घूम सकते हैं।

नागवायु—गद्‌गारादि (छींकना आदि), कर्मवायु–संकोचनीय, कृकर वायु–क्षुधा, तृष्णादि, देवदत्त वायु–निद्रा, तन्द्रा आदि और धनंजय वायु–पोषणादि कर्म करता है। इनमें से अगले पाँच मुख्य हैं, पिछले पाँच उन्हीं के अन्तर्गत हैं।

हृदि प्राणो बसेन्नित्य,

मपानो गुह्य मण्डले।

समाने नाभिदेशे तु,

उदान कण्ठ मध्यगः।।

व्यानो व्यापी शरीरे,

तु प्रधानापंच वायवः।।

(गोरक्ष संहिता 30)

अपाने जुह्वति प्राणं,
प्राणोऽपानं तथा परे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा,
प्राणायाम परायणाः।।
(भगवद्गीता)

पूरक में प्राणवायु को गुदा–स्थान से ले जाकर अपान वायु से फैलाया जाता है। रेचक में प्राण में उदान वायु को प्राण द्वारा उदर की ओर खींचा जाता है, कुम्भक में प्राण और अपान दोनों की गति को समान के स्थान नाभि में रोक दिया जाता है, इससे रज और तम का मल दग्ध होकर सत्व का प्रकाश बढ़ता है और मन शीघ्र एकाग्र हो जाता है। जिसके कारण इस प्राणायाम का अभ्यास करने वाले का–

बीजान्युग्न्यु पदग्धानि,
न रोहन्ति यथा पुनः।
ज्ञान दग्धस्तथा क्लेशैः–
नत्मिना सम्पद्यते पुनः।।

जिस प्रकार अग्नि से जले हुए बीज फिर नहीं उगते, उसी प्रकार विवेकज्ञानरूप अग्नि से जले हुए क्लेश फिर उत्पन्न नहीं होते।

इसीलिए केवल राजयोग के लिए हठयोग की विद्या का उपदेश किया जाता है। शास्त्र में आया है–

केवलं राजयोगाय,
हठ विद्योपदिश्यते।
राजयोग बिना पृथ्वी,
राजयोग विमानिशा।।
राजयोगं बिना मुद्रा,
विचित्रापि न शोभते।।

भावार्थ–राजयोग के बिना पृथ्वी (आसान) नहीं शोभित होती है। राजयोग के बिना निशा (कुम्भक प्राणायाम) नहीं शोभित होती है और राजयोग के बिना विचित्र मुद्रा शोभित नहीं होती है।

स तु बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देश–कालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः।
(यो.द 2/50)

शब्दार्थ—बाह्य आभ्यांतर–स्तम्भ वृत्ति = बाह्य वृत्ति और स्तम्भ वृत्ति (तीनों प्रकार का प्राणायाम), देश, काल, संख्या से देखकर हुआ, दीर्घसूक्ष्म = लंबा और हल्का होता है।

दु:खदौर्मनस्यांगमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुव:।

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यास:।

(यो०द० 1/31–32)

अन्वयार्थ—उन पूर्वोक्त विक्षेप तथा उपविक्षेपों को दूर करने के लिए किसी एक अभिमत (इष्ट) तत्त्व में चित्त को बार–बार लगाना चाहिए। अर्थात् किसी अभिमत एक तत्त्व द्वारा चित्त की स्थिति के लिए यत्न करना चाहिए। इस प्रकार एकाग्रता के उदय होने पर सब विक्षेपों का नाश हो जाता है, यह साधारण उपाय है। सबसे उत्तम उपाय ईश्वर–प्रणिधान है, जिसको (पाद योग–सूत्र 1/29) में बतलाया गया है जिसके अनुसार साधक ने साधना की है जो निर्बीज समाधि की प्राप्ति का बहुत सुगम उपाय है।

योगवार्तिकार विज्ञान भिक्षु तथा भोज वृत्तिकार ने इस सूत्र में एक तत्वाभ्यास से किसी इष्ट अभिमत का अर्थ ग्रहण किया है और पं. वाचस्पति मिश्र ने एक तत्त्व का अर्थ प्रधान तत्त्व और प्रधान तत्त्व को ईश्वर मान कर ईश्वर–प्रणिधान का अर्थ ग्रहण किया है। असम्प्रज्ञात समाधि से पूर्व ईश्वर–प्रणिधान का फल विक्षेपों की निवृत्त सूत्र 29 में बतला दिया गया है। पुन: इस बात का निर्देश करने के लिए एक नये सूत्र की रचना आवश्यक है। इसलिए एक तत्व से किसी इष्ट अभिमत तत्व का अर्थ लेना ठीक है और पा० यो० सूत्र 1/34 से 39 तक की चित्त की स्थिति के उपाय बतलाये गये हैं, इनका इसी सब सूत्र से सम्बन्ध है।

साधकों को ज्ञात होना चाहिए कि प्रस्तुत लेख सद्गुरु की प्रेरणा से ''**योगेन योगो ज्ञातव्य: योगो योगात प्रवर्तित**'' के अनुसार लिखी गई हमारी पिछली लेख–माला के सिद्धान्त ''**हिन्दू धर्म के आध्यात्मवाद का विज्ञान से सामंजस्य**'' विषय का पहला आधार स्तम्भ है।

अक्रिया की साधना

–रचना शर्मा, मुम्बई

कितने सहज और करुणामयी होते हैं। प्रभु! मेरे प्रभु मेरे गुरुदेव आपकी सर्वव्यापकता का वर्णन किस प्रकार करें हमारे पास न तो शब्द है और न लिखने की कला। मेरे प्रभु के इस सहज सुलभ अलौकिक रूप को वर्णित करना उसी प्रकार है जिस प्रकार बालू से तेल निकालना या फिर खरगोश के सींग उगाना।

गुरुदेव जिनके स्मरण मात्र से मन आह्लादित हो उठता है। कण्ठ अवरुद्ध हो जाता है। वाणी मूक हो जाती है। क्या समाया है ऐसा उस परमतत्व के अंदर जो उन्हें असाधारण से अलौकिक बनाता है। कौन–सा अद्‌भुत अनूठा रस टपकता है उनकी दृष्टि से जो अनायास ही हमें वश में कर लेता है। कौन लिप्त है उनकी देह में जो उस आकर्षण को कई गुना कर देता है। कौन विद्यमान है उनकी जिह्वा पर जो जब भी बोलते हैं वाणी से अमृत छलकने लगता है। जब हम उस परमतत्व गुरुदेव के सम्मुख होते हैं। ऐसा लगता है उस परमतत्व के समक्ष हम अपना सब कुछ रिक्त कर दें। जीवन की हर घटना, हर क्षण में घटित हमारे जीवन के रहस्य उनके सामने कह दें। फिर दूसरे क्षण लगता है कुछ न करें सिर्फ मौन रहें। बस उनके अलौकिक रूप को निहारें। वो हमारे परमपिता हैं। वो हमारे सारे हाव–भाव पढ़ रहे हैं। तो उनके सामने वार्तालाप से क्या अभिप्राय। हमारे जीवन में यह असाधारण व्यक्तित्व परमपिता परमेश्वर सिर्फ हमारे गुरुदेव हो सकते हैं।

हमारे जीवन रूपी पथ पर आस्था के दो स्वर सुनाई देते हैं। क्रिया का स्वर मुखर है, अक्रिया का स्वर मौन, क्रिया का स्वर संगीत हमारे चारों ओर प्रतिध्वनित हो रहा है। हम उसे सुन सकते हैं। अक्रिया का पुष्प हमारे मौन में खिला है। इसकी सुगन्ध कोई बिरला ही ले पाता है। साधना में कुछ करना पड़ता है। लेकिन मौन साधना में कुछ नहीं करना पड़ता। केवल भाव की सुगन्ध फूटती है। अश्रु बिन्दुओं से उस परमतत्व का अभिषेक होता है। परन्तु कुछ न कहने की स्थिति में उतरने के लिए बहुत बड़े साहस की आवश्यकता है। क्रिया का तट सुरक्षित है। किसी प्रकार का भय नहीं। अपना जाना पहचाना किनारा फिर किनारे पर कितने लोगों की भीड़, भीड़ को देखकर लगता है, किनारे का महत्त्व है तभी इतनी भीड़ किनारे पर टिकी है। गंगा की गहराई में कोई बिरला ही उतरता है। कुछ लोग गंगा में प्रवेश भी करते हैं तो भी कमर के बराबर पानी में डुबकी लगाकर वापिस आ जाते हैं। डूबने का खतरा है। अब खतरे में कौन जाना चाहेगा। असुरक्षा में कौन छलाँग लगाये

अक्रिया में तन मन के तट छूटते हैं। ज्ञात से अज्ञात में प्रवेश होता है। क्रिया करने में अहंकार को लगता है। मैंने कुछ किया है। मौन साधना अब अक्रिया में अहंकार धराशायी हो जाता है क्योंकि जब कुछ कर ही नहीं रहे तो अहंकार किस बैसाखी का सहारा लेगा। अक्रिया में तो बस एक स्वर सुनाई देता है। मेरे प्रभु, मेरे गुरुदेव और यही मेरा शब्द हमें एक क्रान्ति से जोड़ देता है। प्रभु आप मेरे है। और मैं आपका हूँ यही मेरा शब्द हमें उस परमतत्व से जोड़ देता है।

''मेरो तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोय'' यही राग गाया था ना मीरा जी ने और डूब गईं अपने गोपाल में, यह अक्रिया की साधना समर्पण की साधना है। अपना सब कुछ न्यौछावर कर उस परमतत्व से अपने आप को जोड़ना ही अक्रिया की साधना है।

मेरे गुरुदेव मेरे प्रभु, यही शब्द अपनत्व का द्योतक है और उस मेरे को पाने की लालसा हमें उस परमपथ पर चलने को अग्रसर करती है। वास्तविक सत्य भी है। उस परमपथ की यात्रा में हमारे जीवन में जिस आस्था बिन्दु को ध्यान की यात्रा प्रारम्भ होती है। हमारी चेतना उसी भाव भंगिमा को स्वीकार कर लेती है। हम सदैव अपने स्वरूप की स्मृति में रहे। अपनी चेतना की सदैव नित्य स्थिर अनुभव करें। शरीर की क्रियायें करते रहें हम दृष्टा की तरह दृश्य को देखते रहें। शरीर रूपी गाड़ी चलती रहे। या ठहरी रहे हम तो पहिये की तरह सदैव नित्य स्थिरता का अनुभव करते रहें।

इसके लिये आवश्यक है कि हम नित्य प्रातः सायं या जब भी समय मिले समस्त इन्द्रियों को ढीला छोड़कर अक्रिया की स्थिति में बैठा करें। या जब समय मिले अक्रिया की स्थिति में विश्राम करें। केवल एक बात के लिये जागरूक रहें कि चाहे हम श्रम करें या विश्राम में हों सदैव दृष्टा की स्थिति में रहें। हमारा साक्षी भाव का प्रदीप निरन्तर जगाता रहे।

हमारे जीवन में यह जो कर्ता भाव है यही हमारी पीड़ा का कारण है। यदि सद्गुरुदेव की असीम अनुकम्पा से अकर्ता भाव की दृष्टि उपलब्ध हो जाती तो हमारा जीवन भी आनन्द का उत्सव बन जाएगा। हमारे जीवन को हम आनन्द की वाटिका बना सकते हैं। लेकिन कब जब हमारे जीवन से कर्ता का भाव का बोझा सद्गुरु कृपा से हट जाएगा। हमारे दुःख का कारण ही ''मैं'' है और इसी ''मैं'' के घेरे में चिन्ताएँ हैं। यदि इस घेरे से बाहर निकल आयें तो जीवन में आनन्द ही आनन्द है। अभी तक कर्ताभाव में ''मैं'' जहाँ सुख की लहरों में व्यथित था वह दृष्टाभाव के आनन्द महासागर से अभिन्न होकर उस अविनाशी परमतत्व में एकाकार हो जाता है।

भाव-प्रसून

प्रभु हौं बड़ी देर से ठाड़ी।

सुमन सुमन के हार लिए, मैं बाट निहारूँ कब से ठाड़ी।
नयनन दीप धरे दरवाजे, सूझे पड़े अँसुवन जल भारी।
दर्शन की अभिलाषा से मेरे हिय में उठति हिलोरें भारी।
बड़े भाग इस जनम मिले हो, करो न अब तुम मोहि पिछाड़ी।
कब तक तड़पाओगे गुरुवर, दया करो मैं कब से ठाड़ी।
कंठ भयो अवरुद्ध मेरो अब, कैसे कहूँ दशा मेरी सारी।
अज्ञानी हूँ भजन न जानूँ, देर करो ना जानि अनाड़ी।
सरिता कहे अब प्रभु अपने लो, जैसी भी हूँ हूँ तो तुम्हारी।।

जो दर्शन पाऊँ एक बार।?

नैन कपाट बन्द करि राखौं, जान न देहौं अब की बार।
प्रेम अश्रु की वर्षा से तब, पद पंकज पावन दूँ पखार।
श्रद्धा भाव प्रेम सुमनों के, उर विशाल पहिराऊँ हार।
हृदय सिंहासन पर बैठा कर, श्वास-श्वास से करूँ पुकार।?
नैन झरोखों से मैं सुन्दर मूरति निरखूँ बार-बार।
पूर्ण समर्पण प्रभु चरण में, शीश झुकाऊँ बारम्बार?
अब की नाथ दया कर दो तुम, भव सागर से कर दो पार।।

प्रेषण कार्यालय :

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सँवाई (एत्मादपुर) आगरा (उ.प्र.)

PRINTED MATTER BOOK-POST

श्री/सुश्री ______________________

____

____

□□□□□□

कृष्ण-ध्यान ही दिव्य

जीव की दृष्टि से संसार के वैभव का ध्यान राग का कारण है। उसमें राग से वासना और वासना से आसक्ति जन्य बन्धन होता है, किन्तु श्रीकृष्ण के वैभव का ध्यान करने पर राग-द्वेष, वासना या बन्धन नहीं होते। उल्टे उनके ध्यान से संसार के वैभवों से वैराग्य हो जाता है। श्रीकृष्ण के वैभवों पर दृष्टि जाती है तो संसार का बड़े-से-बड़ा वैभव अत्यन्त तुच्छ मालूम पड़ता है। वह संसार के वैभव का अभिमान और उसमें राग मिटाने का उपाय है। वह संसारिक वैभव से वैराग्य कराकर श्रीकृष्ण में राग कराता है, अतएव 'दिव्य' है।

-श्री स्वामि अखण्डानन्द सरस्वती

संस्थापक :- योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज। मुद्रक एवं प्रकाशक डॉ. दासलाल शर्मा के लिए राष्ट्रीय ब्लॉक एवं प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा-3 से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) आगरा से प्रकाशित। आर.एन.आइ. नं. UPHIN/2004/14566 सम्पादक : आचार्य ब्र. (डॉ.) दासलाल शर्मा